ग्रन्थि-मोचन

सुधाकर शर्मा

गुमनामी में छिपे श्रेष्ठ लेखन को

लेखक की ओर से

आज दुनियाँ जिस प्रचारपरक, विज्ञापनवादी और अस्वस्थ स्पर्धा-मूलक मिथ्या दंभ के दौर से गुज़र रही है, उसमें, जीवन के अन्य क्षेत्रों में आये बदलाव के साथ, यदि साहित्यिक कृतियों के मूल्याङ्कन के मान-दण्ड भी बदल गये हैं, तो वह खेद का विषय ही हो सकता है, आश्चर्य का नहीं। आज किसी भी नवीन सर्जनात्मक कृति की पहचान के लिए ज़रूरी है कि उसका विमोचन किन्हीं महिमा-मण्डित हाथों से हुआ हो, चार-छह 'लोकप्रिय' पत्र-पत्रिकाओं के तथाकथित समीक्षा-स्तंभों के माध्यम से उसका प्रभूत गुणानुवाद हुआ हो, किसी 'प्रचार दिग्गज' के हस्ताक्षर से पुस्तक की भूमिका लिखी गयी हो और प्रचुर धनराशि व्यय करके उसका विज्ञापन हुआ हो। इस सन्दर्भ में किये जाने वाले पुराने सवाल—'क्या लिखा है' 'किस उद्देश्य से लिखा है' और 'कैसा लिखा है'···गौण हो गये हैं।···सौभाग्य या दुर्भाग्य से 'नए मानक' के अन्तर्गत की जा रही अपेक्षाओं की पूर्ति करने वाला कोई 'हादसा' प्रस्तुत उपन्यास-कृति के साथ नहीं हुआ है। रचना अच्छी है या बुरी, इसका निर्णय पुस्तक को बाँचकर, उसके पात्रों-चरित्रों की प्रामाणिकता को परखकर और उसके कथ्य तथा उसकी बुनावट की संप्रेषण-क्षमता को आँककर ही किया जा सकता है।···और यह निर्णय सुधी एवं संवेदनशील पाठकों को ही करना है; अन्य किसी को नहीं।

दिनांक २५ दिसम्बर, १९८५

सुधाकर शर्मा

एक

नाइजीरिया में अपने त्रिवर्षीय प्रवास से लौटने के बाद ही मुझे लगा था कि घर में बदलाव सा आ गया है कहीं कुछ । वैसे घर वही था । वही कमरे, वही आंगन, वही बराम्दे, वही अहाता और वही आम्र कुंज । ऊपर छत पर बना मेरा अपना कमरा भी यथावत् था और बगल की छत पर भाई जी और भाभी का वह कक्ष-पुंज भी अपरिवर्तित था सिवाय इसके कि भाई जी के कक्ष के साथ एक बाथरूम और जुड़ गया था ।...घर के सदस्यों मे भी कोई घटा-बढ़ी नहीं हुई थी । चाची, उनका पुत्र गगाधर, उसकी पत्नी इन्दु और पुत्र मधुकर यानी टीपू—यही लोग तो थे परिवार मे भाई जी—भाभी और मेरे अलावा । हाँ टीपू जरूर इस बीच में अपनी तोतली जबान मे बाते करने लगा था काफ़ी और नर्सरी स्कूल जाने लगा था । शैतान और जिद्दी भी हो गया था । गांव से आये हुए पं० कन्हैयालाल मुनीम भी थे जहाँ के तहाँ घर का सौदा-सुल्फ लाने को और चाची के लड्डू गोपाल जी की सेवा करने को सुबह-शाम । महाराजिन और नौकर जरूर नये थे मगर उनसे क्या लेना-देना घर परिवार के माहौल से ।

क्योंकि बात तो माहौल की ही थी शायद ।...घर-परिवार के वाता-वरण की या कदाचित उससे भी किसी सूक्ष्मतर शै की, जिससे किसी घर-परिवार का वातावरण बनता-बिगड़ता है । अगर शुरू-शुरु में घर में महसूस हुए बदलाव का कारण मेरी आँखें घर की दरो-दीवार या रंगो-रोग़न मे ढूंढने लगी थीं तो वह मेरी ग़लती थी । मिट्टी-चूने की दीवारें घर को आकर्षक या अनाकर्षक बना दें, यह दूसरी बात है मगर घर के वाता वरण से उनका क्या सम्बन्ध ?...बदलाव का कारण जानने के लिए

मैंने खुद अपन आपको भी टटोला था भीतर ही भीतर । मगर मेरी मनः-स्थिति भी ज्यूं की त्यूं थी । जिस परिस्थिति में नाइजीरिया गई थी या कहा जाय, जाना पड़ा था—वही आज भी थी—तीन वर्ष बाद भी । घर के सदस्यों के प्रति मेरे मनोभावों में परिवर्तन आने का भी कोई कारण मुझे नहीं दीखता था । कहीं तीसरे या चौथे दिन जाकर समझ में आया था कि बदलाव मुझमें नहीं बल्कि मेरे भाई जी मे ही है ।

आनन्द भाई जी इधर कितने वाचाल और मुखर हो गये हैं, इसका पता मुझे लग तो पहले दिन ही जाना चाहिये था । मगर शुरू में यही लगा था कि मेरे प्रति उनका अति स्नेह ही उनसे इतना बुलवा रहा है, हंसी की फुलझड़ियां छुड़वा रहा और ठहाके लगवा रहा है । मगर उनकी अति मुखरता का क्रम जब तीसरे या चौथे दिन भी नहीं रुका यहां तक कि उसमें कोई कमी भी नही आई तब मुझे स्वीकार करना पड़ा था कि भाई जी के मिजाज में यह कोई क्षणिक या अल्पकालिक परिवर्तन नहीं है बल्कि इधर यह उनके स्वभाव का अंग सा बन गया है। परिवार के अन्य सदस्यो को भाईजी के स्वभाव और व्यवहार मे यह परिवर्तन निश्चय ही शुभ और स्वागत योग्य लगा होगा । मगर मुझे तो, सच बताऊं कुछ डर सा लगा था भाईजी के स्वभाव में इस तीव्र परिवर्तन पर, जो प्रत्यक्षतः मेरे नाइजीरिया प्रवास की अवधि में ही हुआ था । चाची के इस घर में आने के बाद से दोपहर का खाना भाईजी परिवार के सभी सदस्यो के साथ नीचे रसोईघर और चाची के कमरे के बीच अवस्थित भोजन कक्ष में ही खाते थे । क्लिनिक से लौटने में असाधारण देर हो जाय या कहीं बाहर लन्च-वन्च हो उनका, तब की बात दूसरी थी । मगर मेरे नाइजीरिया जाने से पहले तक, भाईजी के लिए यह एक विवशता भरी औपचारिकता ही होती थी, चाची या भाभी का मन रखने भर के लिए । मगर इधर तो शायद दोपहर का भोजन भाईजी के लिए एक उत्सव जैसा ही हो गया था । घर में घुसते ही चिल्लाने-पुकारने लगते-दीपा कहाँ है ?

कालेज से लौटी या नहीं,—टीपू सुल्तान कहाँ है—क्या-क्या बना है खाने में, रायता क्यों नहीं बना,—खीर मे पिस्ता क्यों नहीं डाला—और जब तक मै अपने ऊपर के कमरे से भोजनकक्ष में पहुँचती तब तक महफिल जैसा समां बन चुका होता था भोजन कक्ष का, भाईजी की कृपा से। जिस खाने की मेज पर पहले मौन का ही प्राधान्य रहता था वहीं अब टीपू महाशय खाने की मेज पर बीचो-बीच सुलतान की तरह विराजमान किल-कारियाँ भर रहे होते, भाभी जी आँखों में वही चिरपरिचित रहस्यमय मुस्कान लिए टीपू सुल्तान और भाईजी के इशारों पर कुची-पुड़ी नृत्य सा कर रही होती। बहू रानी गंगाधर की पत्नी इन्दु खाद्य-व्यंजन लिए रसोईघर और भोजन कक्ष के बीच दौड़ सी लगा रही होती और चाची जी मेज से थोड़ा हट कर नई दुल्हन सी सजी-धजी कुर्सी पर बैठी कृत्रिम नाराजगी की मुद्रा में गिल्ला-शिकवा कर रही होती कि भाईजी कैसे टीपू का बेजा लाड करके उसे सर पर चढा रहे है। देखकर क्षण भर को तो मेरा मन होता कि मैं भी इस पारिवारिक गहमा-गहमी में शामिल हो जाऊँ, भाईजी की तरह क़हक़हे लगाऊँ या कम से कम भाभी की तरह मुस्कान जड़ा मुखौटा ही चढ़ा लूं एक, अपने चेहरे पर। मगर मेरे अन्तर मे खुशी का कोई छोटा सा झरना भी शेष बचा होता, तभी न? मनमारे एक कुर्सी खीचकर चुपचाप बैठ जाती भाईजी के सामने और खाने के नाम पर थाली में से टूंगा-टूंगी शुरू कर देती। भाईजी खाने स हाथ रोककर, तनिक वंकिम निगाह से देखते मेरी ओर। पूछते, 'क्यों गाल कुप्पा क्यों किये है? क्या फिर डांट खाई मिस झरना घोप से?'

मिस झरना घोप मेरे महाविद्यालय की प्रिन्सिपल थी और 'आर्थिरा-इटिस' की मरीज होने के नाते अन्य बहुत से डाक्टरों के अलावा भाई जी की भी चिकित्सा में रह चुकी थी कुछ समय तक। शायद इसी कारण या कदाचित इसलिए कि मेरा वायलिन-वादन बहुत पसन्द था उन्हें, मुझे विशेष स्नेह देती थी। स्नेह में ही कभी-कभी डांट-डपट भी लेती थीं।

भाईजी की ऐसी अटपटी बातों पर खामोशी ही मेरे काम आती। मेरा खाने का नाटक भी चलता रहता। मगर मेरी निगाहों में शायद ऐसा कुछ जरूर रहता होगा, जिसे देखकर भाई जी हठभ्रम से होकर अपने पुराने गम्भीर चिन्तनशील रूप में आ जाते। मगर यह रूप अधिक देर तक नहीं ठहरता था। दो चार क्षणों में ही वह चिहुँककर अपने उसी नये मुखौटे को फिर धारण कर लेते जिसे देखकर मेरा मन अक्सर आशंकित हो उठता था कि या तो वे कुछ सनक गये हैं या फिर भाँग-वाँग खा आये हैं किसी दोस्त के यहाँ।

उस दिन दोपहर को भी मेरे नीचे आने पर ऐसे ही कुछ शब्दों से मेरा स्वागत किया था भाई जी ने। कुर्सी पर बैठते ही अपने नवअर्जित विनोदपूर्ण लहजे में चमक पड़े,—'क्यों लड़की क्या बात है? मुँह गोल गप्पा क्यों बना रक्खा है, गोलगप्पे खाकर आई है अमीनाबाद से या तेरे मैनेजर, क्या नाम है—संकटा परशाद ने फिर कोई बन्दर-भभकी दी है, 'पुणे कान्फ्रेन्स' को लेकर।'

सामान्यतया मे उन्हें सीधा-सादा ही जवाब देती कि न तो मैंने गोल-गप्पे खाये हैं और न ही संकटा बाबू ने ही कोई खास नया संकट खड़ा किया है मेरे लिए। और मुझे विश्वास था कि भाई जी, जो मेरी मानसिकता से पूरी तरह परिचित थे, एक क़हक़हे के साथ यह कहकर कि तू चिन्ता मत करना उस 'संकट-लोचन' की धमकियों की। पुणे के संगीत सम्मेलन में तेरे भाग लेने पर कोई और ऐंडी-बैंडी बात करे तो मुझे बताना—अच्छा,...बात वहीं समाप्त कर देते। मगर तभी बीच में बोल पड़ी थीं चाची कि 'अरे भैया अब दीपा लड़की नहीं है। अठाईस साल पूरे हो गये, उनतीसवाँ लग गया और तुम इसे अभी बच्ची ही समझते हो। मैं कब से कह रही हूँ कि जल्दी से कहीं लड़का देखो और इसके हाथ पीले कर दो। विदेश घूम आई या डिग्री कालेज में अंग्रेजी की लेक्चरार

हो गई है, उसका मतलब यह नहीं है कि जिन्दगी भर क्वांरी बैठी रहे और गाने-बजाने में ही सारा समय गंवाये।'

इस पर मैं तीखा सा जवाब देने ही जा रही थी चाची को कि बीच में फिर बोल पड़े ये भाई जी। कहने लगे,—'बात तो सोलहो आना ठीक कह रही हैं चाची। व्याह तो अब तुझे कर ही लेना चाहिए दीपा।........सही मानों में जीवन का सच्चा सुख तो गृहस्थ-जीवन में ही है। वह कोई फिल्मी गाना है न, कि हो जाओ किसी के या किसी को अपना बना लो। एकदम—'वन हन्ड्रेड परसैन्ट' सही बात। देखती नहीं अपनी भाभी को। सेव नहीं, सेव का मुरव्वा हो रही हैं एकदम। बिना गाये बजाए ही। गाने बजाने में रक्खा ही क्या है भला ?'

बस यही मेरा धैर्य पूर्णतया जवाब दे गया था। भाई जी की भाषा में छिपे व्यंग्य को और उनके लहजे से उनकी भावना को बखूबी समझते हुए भी उबल ही तो पड़ी भाई जी पर। इस बात का लिहाज भी नहीं कर पाई कि वह मुझसे उम्र में लगभग बारह साल बड़े हैं या कि उन्होंने मुझे माता-पिता की मृत्यु के बाद मातृ-पितृवत् स्नेह दिया है, पाला पोसा है, इस योग्य किया है कि संगीत तथा अंगरेजी की प्राध्यापिका के रूप में किसी कालेज में नौकरी पा सकूं। तीखे विद्रूप भरे स्वर में बोल उठी—'वाह भाई जी वाह, कितने नेक विचार हैं आपके। लगता है इधर थोड़े ही दिनों में केवल काया-कल्प ही नहीं पूरा मत-कल्प भी हो गया है आपका। विवाहित जीवन के पक्ष में अगर कोई ग्रन्थ अभी तक लिखना न शुरू किया हो तो अब शुरू कर दीजिये और उसमे अपना और भाभी जी का फोटो भी अवश्य दे दीजियेगा विवाह से पहले का और आज का जो इस बात की सनद रहे कि विवाह के बाद पति-पत्नी का स्वास्थ्य कैसा निखरता है और पीले निस्तेज चेहरे किस तरह गुलाबी सेवों में बदल जाते हैं। बड़ी प्रेरणा

मिलेगी नौजवान लड़कों-लड़कियों को आपकी किताब से अकेले से दुकेले बनकर अपने जीवन को सार्थक करने की दिशा में।'

मेरी इस जवाबी व्यंग्योक्ति पर भाई जी तो नाराज नहीं हुए मगर भाभी जी की भौंहों में बल अवश्य पड़ गये। और चाची जी? चाची तो ऐसी क्षुब्ध हुई कि तमक कर बोल उठीं—'ए दीपा यही तमीज सीखी है तूने? और यही सभ्यता सिखाती है तू कालेज में पढ़ने वाली लड़कियों को? ऐसे ही बोला जाता है बड़े भाई से? शर्म आनी चाहिए तुझे।'

मन में आया कि कह दूँ कि शर्म किसे आनी चाहिए, इसे तुम मुझसे ज्यादा अच्छी तरह जानती हो चाची मगर तभी भाई जी की निगाह से निगाह जा टकराई मेरी ओर पता नहीं उनकी उस दृष्टि में कैसी विवश याचना सी थी कि मैं चुप्पी लगा गई एकदम। एक शब्द भी आगे नहीं बोली। बस भाई जी को ही टुकर-टुकर ताकती रही इस आशा से कि अब किसी क्षण भी भाई जी का जोरदार ठहाका लगेगा और वातावरण में छाई उमस दूर होने के साथ मेज पर बैठे लोगों की जुबानें फिर खुलेंगी और कोई न कोई मुझसे भी खाने को पूछेगा।

मगर उस दिन मेज पर न तो भाई जी का ठहाका लगा, न किसी ने मुझसे खाने को पूछा और न मैंने खाना खाया। लगभग सूखे बीत रहे जुलाई मास का उमस भरा वातावरण अनपेक्षित मौन के उन उदास क्षणों से धीरे धीरे और बोझिल होता गया। मन फूट-फूट कर रोने को हो आया। मगर उस घड़ी, पिछले तीन चार वर्षों का आंसुओं को अन्दर ही अन्दर पी जाने का अभ्यास काम आया। वैसे भी अपनी आँखों में आँसू के कण दिखाकर चाची की सन्तोष-भावना को बढ़ावा देने की कतई इच्छा नहीं थी मेरी इसलिए आंखों में 'सूखा-सावन' समेटे उठ आई वहाँ से। टीपू की पुकार भी मुझे नहीं रोक सकी वहाँ।

□□

दो

खाने की मेज से उठकर अपने कमरे में जाकर मुँह पर पानी के छपे मारकर और पंखा खोलकर लेटी ही थी कि भाई जी आ गये एक हाथ में क्वार्टर प्लेट में रोटी-सब्जी लिए और दूसरे में फ्रिज के पानी की बोतल लिए। मैं एकदम सकते में रह गई। पलंग से अधउठी ही देखती रही उनकी ओर दो-चार क्षणों तक। मगर भाई जी ने शायद एक बार देखकर, दुबारा देखा भी नहीं मेरी ओर। बोतल मेजपर रखकर, एक तिपाई मेरे पलंग के पास लगाकर रक्खी और उस पर क्वार्टर-प्लेट रक्खी बड़े करीने से,······ऐसे जैसे कि अपनी रोजमर्रा की कोई ड्यूटी अंजाम दे रहे हों। फिर बोतल भी तिपाई पर रखकर बोले—'ले खा। गिलास लाना भूल गया, वह भी लिए आता हूँ अभी। देख रही है न, उम्र किस क़दर हावी होती जा रही है मुझपर······ले उठ जल्दी से'।

कहते हुए वापस मुडने को थे भाई जी कि मैं उनका बायाँ हाथ पकड कर फफक उठी बेबस होकर। भाई जी बैठ गये वहीं पलंग के किनारे पर। मेरे सिर पर स्नेह भरा दायाँ हाथ फिराते हुए बोले,—'हिश् रोती क्यों है पगली ? बडे बूढे तो ऐसे कह ही देते हैं। उनकी बात पर नाराज होकर क्या कहीं खाना छोड़ा जाता है ? ले-खा-।'

'मगर भैया, आपने क्या मुझपर अपनी नाराजगी व्यक्त करने का यही तरीक़ा ठीक समझा ?'—बमुश्किल तमाम इतना भर बोल फूटा मेरे मुँह से।

'क्यों मेरी नाराजगी की बात कहाँ आ गई इसमें ? तुझे क्या याद नहीं, कितनी बार अपनी रूठी गुड़िया को इसी तरह रसोई से लाकर, यहीं इसी कमरे में खाना खिलाया है मनुहार कर करके। आज क्या फिर उसी तरह का मान-मनव्वल करायेगी मुझसे ?'

भाई जी के इन शब्दों ने तो मेरे अन्दर का बाँध ही तोड़ दिया हो जैसे। उसके बाद न जाने कितनी देर तक बिलख बिलख कर रोती रही आवाज पर यथासंभव नियन्त्रण किये और भाई जी की कमीज की बाँह को भिगोती रही अपने अजस्र आँसुओं से।

बात भाई जी ने लगभग १९-२० वर्ष पहले की कही थी और मेरे मन:चक्षुओं के सामने चित्र ऐसे तिर रहे थे जैसे अभी कल की बात हो। तब भाई जी—'भाई जी' न होकर मेरे भैया हुआ करते थे और मैं ? मेरे नामों का तो जैसे अन्त ही न था। भैया रोज मेरा नया नामकरण करते थे। गुड़िया-गुड्डो-गुड्डी उन्हें विशेष प्रिय थे मगर इनके अलावा मुझे बुलाने-पुकारने में, दुलारने और लड़याने में जो भी ऐंड़ा-बेंड़ा सार्थक-या अर्थहीन वर्णसमूह उनके मुँह से निकल जाता था, वही आने वाले दो-तीन दिनों के लिए मेरा नाम हो जाता था। चुनमुन, लाडो, रसभरी, छिन्टी; टुलटुल जैसे न जाने मेरे कितने नाम थे जिनको लेकर यदि एक विष्णु-सहस्त्र-नाम नहीं तो 'दीपा-शत-नाम' की तो रचना भैया कर ही सकते थे। और अपना दीपा नाम तो मुझे स्कूल में ही याद आता था वरना घर पर तो ज्यादातर गुड्डी या बेबी। हाँ, बीच में भैया के दिये हुए ऊलजलूल नाम भी चलते थे जिनपर एकाधिकार भैया का ही होता था।

फिर, घर में थे ही कितने लोग उन दिनों ? परिवार के सदस्यों में एक भैया और एक बुआ जी···बस्स। ऊपर से एक दो नौकर-नौकरानी जो हर साल छः महीने पीछे बदलते रहते थे। बदरीधाम की यात्रा के दौरान माँ और पिता जी दोनों की ही बस-दुर्घटना में मृत्यु होने के बाद में पिताजी की एक मात्र बाल विधवा बहन ने ही, देवर-देवरानियों और नौकर-चाकरों से भरी पूरी बलरामपुर वाली अपनी ससुराल की हवेली छोड़कर, यहाँ लखनऊ आकर हम दोनों भाई-बहिनों को पाला-पोसा और बड़ा किया था। वैसे चाचा जी अर्थात् गंगाधर भैया के पिता उस समय जीवित थे और गाँव के पुश्तैनी मकान में अपनी पत्नी और पुत्र के साथ

रहते हुए सम्मिलित परिवार की खेती-बाड़ी देखते थे मगर हम लोगों के लिए वे बेगाने से ही थे। बुआ जी न होतीं तो भगवान जाने, हम दोनों पर क्या बीतती।......ढाई वर्ष की अबोध बच्ची और चौदह वर्ष का हाईस्कूल में पढ़ रहा भोला-भाला असहाय किशोर!

वैसे यह भी था कि यदि बुआ जी न होतीं तो शायद माँ और पिता जी बदरीधाम की यात्रा पर गये ही न होते। हम बच्चों को भला किसके पास छोड़ते? कठिन पर्वतीय यात्रा और उसमें भी जोशीमठ के आगे १८-२० मील पैदल। छोटे बच्चों को, खासतौर से मुझे साथ ले जाना यदि असंभव नहीं तो कठिन और जोखिम पूर्ण तो था ही। बुआ जी से ही सुनने को मिला था यह सब कुछ बड़े होने पर। उन्होंने माता-पिता की सही पहचान कराई थी मुझे, कुछ पुराने फोटुओं के जरिये, और कुछ, रोज रात को अपने पास लिटाकर उन दोनों की यशोगाथायें सुना-सुनाकर। उन्हीं से यह मालूम हुआ था मुझे कि मेरे भैया ने, चौदह वर्ष के उस किशोर ने माता-पिता की मृत्यु के बाद कैसे असमय ही बुजुर्गियत धारण कर ली थी, कैसे उसने अपनी पढ़ाई के साथ साथ यहाँ तक कि डाक्टरी का कोर्स करते हुए भी घर की तमाम ज़िम्मेदारियों को बड़ी कुशलता से संभाला था, कैसे उसने बुआ जी को माता-पिता से भी अधिक आदर-सम्मान दिया था और कैसे उसने अपनी एक मात्र बहिन को अपने अगाध प्यार और स्नेह से लगातार सराबोर रक्खा था। नहीं बताया था बुआ जी ने, तो केवल यह कि उन्होंने हम दोनों भाई बहिनों के लिए क्या-क्या किया था। उसका ब्योरा खुद भैया ही बताया करते थे, बुआ जी के जीते-जी भी और उनके मरने के बाद भी।

और उनका मरना भी एक प्रकार से अचानक ही हुआ था। तबतक मैंने उम्र के १० वर्ष पार कर लिए थे और स्कूल मे छठी कक्षा में थी। घर की स्थिति समझने बूझने लगी थी। बुआजी का वह चित्र क्या मैं कभी भूल सकूंगी, जब उन्होंने मुझे स्कूल से लौटने पर नाश्ता कराते हुए,

उनका भी नहीं था। नव-विवाहिता वधू के रूप में वे तो अपने आंचल में प्रेम और स्नेह बटोरने के सपने संजोये हुए आई थी। सास-ससुर यदि नहीं थे तो पति का एकान्त—प्रेम पाने की आकांक्षा तो रही ही होगी उनके मन में। उसी एकान्त प्रेम में हिस्सेदादरी करनेवाले को वह अपना ममत्व या स्नेह कैसे दे पातीं भला। इसीलिए उनसे मेरी अक्सर अनबन चलती रहती थी और ऐसी अनबन से बिगड़ा हुआ मेरा 'मूड' तबतक सामान्य नहीं होता था जबतक शाम को भैया के लौटने पर उनकी बाँह से लिपटकर मैं फफक-फफक कर रो नहीं लेती थी।........ठीक आज की तरह।

'ले खा ले, पहाड़ी मिर्च और करौंदे की सब्जी है, खीरे का रायता है...तुझे अच्छा लगता है न और घी-चुपड़ी रोटियाँ है। ले उठ',—भैया के बोल कानों में पड़े तो स्वप्नलोक से फिर धरती पर उतर आई मैं। कहना चाहा—'भैया', मगर इधर सोलह-सत्रह वर्षों से पड़ी आदतवश मुँह से निकल पड़ा...'भाईजी'।

'भाई जी नहीं भैया',...स्नेह से झिड़का भाई जी ने।

'नहीं, भाभी को मेरा भैया कहना पसन्द नहीं', मैंने थोड़ा सामान्य होते हुए और ओठों पर एक फीकी मुस्कराहट लाते हुए कहा। 'मालूम नहीं, कितनी मुश्किलों से भाभी ने 'भैया' की जगह 'भाई जी' का पाठ याद कराया है?'

भाई जी क्षण-दो क्षण चुप रहे, और मेरी आंखों मे आंखें डाले देखते रहे जैसे मेरे भीतर कुछ तलाश रहे हों। फिर हँसने की कोशिश करते हुए बोले—'अच्छा भाई जी ही सही,—मगर यह बता, मिला था आज?'

'हाँ मिले तो थे'

'मिले तो थे' शब्दों को दोहराया भाईजी ने

पत्नी उसे देवता मानकर उसकी पूजा करती है, वह भी उससे पूर्णतया सन्तुष्ट है और कि दो प्यारे-प्यारे बच्चे हैं उनके, नन्दन और जयन्ती जिनसे अलग होने की बात वह कभी स्वप्न में भी नहीं सोच सकता। और तो और, उस 'कायर' ने तो लखनऊ में अपनी जमी-जमायी संगीत अकादमी छोड़कर, परिवार सहित कहीं अन्यत्र चले जाने की बात भी उठाई थी, और अन्ततः उन रास्तों से आना-जाना ही छोड़ दिया था उसने जहाँ मुझसे देखा-देखी हो सकती थी।······क्या यही सब बताती उस पिता-तुल्य भाई को कि उस पैंतीस वर्षीय पुरुष की बुद्धि तो अपने ठौर-ठिकाने थी, मति मारी गई थी तो उन्हीं की २४ वर्षीया बहिन की। बच्ची तो वह भी नही थी तब। अंग्रेजी और संगीत दो-दो विषयों में स्नातकोत्तर उपाधि लिए हुए थी, वायलिन-वादिका के रूप में प्रदेश के अनेक बड़े नगरों में संगीत-सभाओं मे भाग लेकर यशोपार्जन कर चुकी थी। और फिर इतना ही नहीं, प्रेम के मामले में भी एक नहीं बल्कि दो-दो छोटे मोटे चलताऊ प्रेम—प्रकरणों-या उन्हें आसक्ति-प्रकरण कहना ही अधिक उपयुक्त होगा—मे नायिका की भूमिका का भी असफल निर्वाह कर चुकी थी। ऐसी छलनामयी को वह भोला-भाला संगीताचार्य क्या बरगलाता और क्या छलता भला। छला तो एक प्रकार से वही गया था इस प्रेम-दीवानी मीरा द्वारा जिसे उस 'कान्हा' के प्रेम ने अंध-बधिर कर दिया था एकदम, जिसे न अपने तन-मन पर ही कोई क़ाबू रह गया था और न लोक-लाज की ही रंचमात्र चिन्ता रह गई थी। कैसे, किन शब्दों में सुनाती भाई जी को उनकी एक मात्र स्नेह पात्र बहिन की यह 'गौरवमयी यशोगाथा'—।······इसलिये फूट पड़ने को बेताब हो रही जिह्वा को किसी तरह काबू में किये, थरथराते ओठों को एक दूसरे से बांधे हुए, वाष्पपूरित नेत्रों से देखती भर रही भाई जी को पाइप में बड़े क़ायदे से तम्बाकू भरते हुए और उसे जलाने का उपक्रम करते हुए।

तीसरी तीली भी जब बेकार गई तो भाई जी ने पंखा रोककर चौथी

कि चलो लड़की भले ही उनके हाथ से निकल गई मगर अब विदेश में एक विवाहित दम्पती की देखरेख होने से कम से कम वह गुनाह नहीं कर सकेगी, जिसमें स्वयं शामिल होने की कामना वे लोग वर्षों से अपने अध-बूढ़े और मरभुखे मनों में दबाये हुए थे। लिहाजा उन अध्यापक पति-पत्नी के संयुक्त संरक्षण में मैं भी नाइजीरिया चली गई। फिर, रहने को तीन वर्ष वहाँ रही भी? मगर वहाँ क्या प्रसन्न को भुला पाई? भुला पाती भी कैसे भला जबकि उनकी दर्द और सोज़ से भरी आवाज़ का जादू उन हज़ारों मीलों का रास्ता तय करके रेडियो और 'टेप्प' के माध्यम से लगभग हर दूसरे-तीसरे दिन मेरे कानों से टकराता रहा और मेरे हृदय और मस्तिष्क पर छाया रहा।……भाई जी सच ही तो कह रहे हैं कि संगीत के उस जादूगर को अपने दिलोदिमाग़ से अब मैं आगे भी कैसे निकाल पाऊँगी भला?……वह तो सब ठीक, मगर हमेशा से मुझे एक अल्हड़-नादान बालिका समझने वाले भाई जी के मुँह से आज मेरे लिए तू की जगह 'तुम' का प्रयोग क्यों? क्या कुछ नाराज़गी है उसके पीछे?

'हूँ-हूँ-हूँ-हूँ'-भाई जी के मठारने की आवाज़ से मेरा ध्यान टूटा। उनकी ओर देखा तो पाया कि वे मेज से टिके हुए उसी यथापूर्वमुद्रा में खड़े हैं और 'पाइप' से हलके-हलके धुआँ खींचते-उगलते हुए अपनी निर्निमेष अन्वीक्षक दृष्टि मेरे चेहरे पर गड़ाये हैं। 'हूँ-हूँ-हूँ' एक बार फिर गला खखार कर बोले,—'क्या सोच रही हो कि जब नाइजीरिया में कटे तीन वर्ष भी उसे मन से नहीं निकाल पाये तो अब आगे क्या उम्मीद की जा सकती है?'

सुनकर मुँह बाए अवाक् देखती ही रह गई उनकी ओर। तन की बीमारियों के निदान में उनका जोड़ीदार नहीं है नगर में, इसे तो सभी जानते थे और मैं भी जानती थी मगर मन को अतल गहराइयों में पड़े गोपनीय भावों को भी वे इतनी सरलता एवं विशुद्धता से पढ़ [illegible] सकते हैं,

यह मैंने उसी दिन जाना। कहा,—'हां सोच तो यही रही थी मगर उससे भी ज्यादा मेरा दिमाग़ इस बात में उलझा हुआ था कि आपके मुँह से मेरे लिए 'तुम' कैसे निकला आज। क्या बहुत ज्यादा खफ़ा हैं आप मुझसे ?'

'पगली',-कहकर भाई जी हँसे और हँसते हुए ही पाइप मुँह से निकाल कर, उन्होंने मेज पर टिका दिया।

मेरी जान में जान आई

फिर अगले ही क्षण बोले—कुछ कृत्रिम गम्भीरता के साथ—,फिर खफ़ा न होऊँ तो क्या खुश होकर तेरी आरती उतारूँ ? तूने झमेला ही ऐसा पाल लिया है कि दूर-दूर तक निस्तार नहीं उससे।'

मेरा माथा फिर ठनका कि कहीं तन की बीमारियों के इस विशेषज्ञ ने मेरे दिल और दिमाग़ में पल रहे प्रसन्न के अलावा मेरे तन में पल रहे 'प्रसन्न' को भी तो नहीं ताड लिया ? यद्यपि ऊपर से देखकर कोई नहीं कह सकता था मगर नाइजीरिया से लौटने पर बम्बई और पुणे में प्रसन्न से हुई भेंट के बाद से एक 'प्रसन्न' मेरी कोख मे भी पल रहा था, इससे कम से कम मैं भला कैसे इन्कार कर सकती थी ?

ग्लानि और वेदना ने मुझे जहाँ का तहाँ औंधा कर दिया। एक तकिये को मुँह से लगाकर फफक ही तो उठी। वर्षों से जमा मन का गुबार ज्वालामुखी से निकले लावे की तरह चिल्ला पडा 'भैया-भैया।

'चलो उससे भी निपटा जायेगा। लगता है भाई-बहिन दोनों का भाग्य विधाता ने एक ही कलम से और एक ही शब्दों मे लिखा है......' रो ले—अच्छी तरह रो ले' कहते हुए भाई जी कमरे से बाहर हो गये। ......मेज पर रखा उनका पाइप एक जलायंत्र भरा धुआँ देता रहा और मैं बचे खुचे आँसुओ से तकिया भिगोती रही।

□□

तीन

उस दिन बड़ा मन था कि पूछूं भाई जी से कि अपने स्वभाव के नितान्त विपरीत यह ठहाका लगाने की कला कहाँ से कब सीखी उन्होंने। कहीं किसी दूसरी ने तो कोई स्थान नहीं बना लिया है उनकी जिन्दगी में। वियावान मन में कहीं प्रेम का छोटा सा विरवा भी फूट उठे तो जिन्दगी में नई बहार आते क्या देर लगती है? मगर शुरू से ही बात ने रुख दूसरा ही पकड़ लिया जिसमें मैं और प्रसन्न ही प्रमुख पात्र थे और मेरे मन की बात जहां की तहां रह गई।

अगले दिन भाई जी सुबह आठ बजे के लगभग क्लिनिक जाने लगे तो मैं भी जल्दी से महाराजिन का बनाया एक पराठा आम के अचार से खाकर उनके पीछे-पीछे कार में जा बैठी।

मुझे बराबर में बैठा देखकर भाई जी की भौंहे ऊपर को खिची थोड़ी प्रश्नवाचक मुद्रा में। कुछ पूछते, इसके पहले ही मैंने स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया, 'कालेज आज थोड़ी देर से जाना है। मेरी पहली क्लास साढ़े नौ बजे से है।'

'फिर-फिर क्या मेरे साथ क्लिनिक चलने का इरादा है?'

'वहाँ भी चलूँगी, मगर उससे पहले काफी हाउस में काफी नहीं पिलायेंगे क्या?' मेरे अनुनय भरे स्वर पर भाई जी मुस्काये अपने पुराने अन्दाज में, फिर एक नजर कलाई-घड़ी पर डालकर बोले, 'अच्छा चलो।'

कार स्टार्ट करते-करते बोले, 'कुछ खा पी लिया है या कल की कसर काफी हाउस में ही पूरी करेगी?'

मैं चुप रही कि देखें आगे क्या कहते हैं, अपनी [illegible] विनोद-
[illegible]रमकता के निर्वाह में।

बड़े निर्विकार भाव से उस विशाल जन-समूह का जायजा ले रहे थे। मेरी जिज्ञासा को उन्होंने किसी तरह भांप लिया था। बड़ी भोली मुद्रा बनाकर बोले—'विरोधी दल वाले हैं, विरोध दिवस मना रहे हैं बेचारे।'

'किस बात के विरोध में ?

'क्यों अखबार नहीं पढ़ती तू क्या ?' कहते हुए व्हील पर से ठोड़ी उठाकर भाई जी ने मेरी ओर देखा। 'आज इक्कीस अगस्त है न, आज चक्का जाम रहेगा। रेलों का, बसों का, टैक्सियों का यहां तक कि रिक्शों का भी। प्राइवेट कारों और साइकिलों को मुक्त रखा है इस प्रतिबन्ध से, भला हो इन सिरफिरों का।'

'मगर विरोध है किस बात पर ?' मैंने पूछा।

'विरोध करने के लिए कोई बात होना जरूरी हो, यह किस शास्त्र में लिखा है ?' भाई जी बोले।—'विरोधी दल वालों का काम ही विरोध करना है, जन्मजात अधिकार है उनका यह। विरोध दिवस नहीं मनाएंगे तो क्या सहयोग दिवस मनाएंगे ?'

स्पष्ट था कि भाई जी पर उनका नव-अवाप्त 'फुलझड़ी मूड' फिर हावी हो रहा था।

उनसे अपनी बात का कोई सन्तोषजनक उत्तर न पाकर मैंने, खिड़की के पास खड़े एक नेतानुमा खद्दरधारी नौजवान से पूछा—'जलूस किस बात का है भैया ?'

खद्दरधारी मेरी बात सुनकर मुस्कराया और फिर भीड़ में आगे बढ़ गया।

इस पर भाई जी एक जोरदार हंसी हंसते हुए बोले—'क्या समझी ? वजह तो अगर तू जलूस के आगे चलने वाले, नारे लगाने वाले बरदारों से भी पूछेगी तो उन्हें भी बताने में दिक्कत होगी ...'

'क्यों ?'

'क्योंकि यह तो भीड़ है महज। 'जस्ट ए क्राउड'

अपना कोई दिमाग़ नहीं होता।'

'मगर जलूस के आयोजक तो किसी मुद्दे को लेकर ही.........

'मुद्दा एक तो है नहीं'—भाई जी ने बीच में ही बात काट कर कहा। 'सैकड़ों मुद्दे हैं और हज़ारों स्वार्थ। और फिर सबसे बड़ा मुद्दा तो इन कहने को समाजवादी मगर मिजाज़ से असल सामन्ती नेताओं के लिए यही है कि जब ठलुआ बैठे-बैठे उकता गये या विधान-मंडल के भाषणों से बोर हो गये बहुत, दो सौ पचास किराए के टट्टुओं और हज़ार पांच सौ, तमाशबीनों और ठलुओं को जोड़ कर जलूस निकाल दिया एक ताकि अगले दिन उनका नाम अख़बारों में आया हो जाय और ग़रीबों की ग़रीबी दूर करने के नाम पर सरकार से, सेठों से, मिल मालिकोंसे और काले धन की कमाई से फल फूल रहे नव धनाढ्यों से पैसा झाड़ने का वसीला बैठ जाय कुछ। लगे हाथों, आगे आने वाले दो चार सप्ताहों के लिए काफ़ी हाउस में बैठ कर बातचीत करने और ख़ुद अपने हाथों अपनी पीठ ठोकने का मसाला भी मिल जाता है 'देश के दीवानों' को।'

एक बेबात की बात की इतनी लम्बी दार्शनिक व्याख्या और वह भी भाई जी के मुख से? सुनकर हंसी भी आने को हुई और कुछ डर सा भी लगा। वही पुराना डर कि कहीं भाई जी, जया भाभी के आडम्बर हीन मरुस्थलीय प्रेम से ऊबकर किसी मरीचिका के चक्कर में तो नहीं आ गये हैं। स्वयं अपनी ही मिसाल आंखों के सामने नाच गई। 'प्रसन्न से मिलने से पहले तक घर-बाहर के सभी लोग यही कहते थे कि दीपा तो बोलना ही नहीं जानती। और उसके बाद जहां एक बार हृद्-तन्त्री झंकृत हुई कि बस स्वर ऐसे फूट पड़े कि उन पर नियन्त्रण करना ही एक समस्या हो गई मेरे लिए। चाची तो बात-बात पर टोकने लगी थीं मुझे उन दिनों कि कितना बोलती है यह लड़की।

'और जहां तक मुद्दे की बात है,' भाई जी कुछ क्षणो की चुप्पी के बाद फिर शुरू हो गये थे—'अपनी चाची को ही देख लें।'

मगर तब तक जलूस के पिछलगुए भी नारों की आखिरी अनुगूंज हजरतगंज के वातावरण मे छोड़ते हुए अमीनाबाद की राह पर मुड चुके थे और रास्ता साफ होने के 'ट्रैफिक-सिग्नल' के साथ ही आगे खड़ी कारों और स्कूटरों का कारवां चलायमान हो चुका था। भाई जी ने भी अपनी बात पर बीच में ही 'ब्रेक' लगाकर बिना एक क्षण की भी देर किये, कार को चालू कर आगे बढ रहे गाड़ियो के काफिले के पीछे डाल दिया।

कुछ आगे जाकर, आगे जा रही गाड़ियो की भगदड से जब कुछ राहत मिली तो भाई जी ने सड़क पर इधर उधर दृष्टि निक्षेप करते हुए कहा—'लगता है विरोधी दलों का अपना ही चक्का जाम हो गया। बसें, टैक्सियां, रिक्शे सभी तो चल रहे हैं बदस्तूर।......अरे पू......जय बजरंग बली।'

बजरंग बली की जय बोलने के साथ साथ भाई जी ने व्हील पर से दोनो हाथ तनिक उठाकर जोड़ लिए क्षणाश भर को और प्रणाम मुद्रा में सिर भी झुका दिया किंचित्। मैंने चौंक कर देखा बाईं ओर तो हजरतगंज के प्रसिद्ध हनुमान जी महाराज की सिंदूर-पुती छवि की क्षणिक झाकी मेरे पल्ले भी पड गई।

आश्चर्य से आँखें फाडे ही तो रह गई मैं। हनुमान जी को देखकर नही बल्कि भाई जी की हनुमद्-भक्ति को देखकर। भाई जी को नास्तिक तो नहीं कहा जा सकता था मगर उनकी किसी देवी-देवता में कोई श्रद्धा भावना रही हो, यह भी किसी ने कभी नही जाना था।

भाई जी की तरफ मुडकर पूछ ही तो बैठी—'यह हनुमान भक्ति क रोग कबसे लग गया आपको भाई जी ?'

भाई जी हसे। हंसते हुए ही बोले—'अभी क्या है,—देखती जा,

शम्मा किस किस रंग में जलती है सुबह होने तक।'

तब तक गाड़ी काफी हाउस की तरफ मुड़ चुकी थी। काफी हाउस के सामने गाड़ी रोककर, शीशे चढाकर, भाई जी उतर पड़े गाड़ी से। काफी हाउस की सीढ़िया चढ़ते हुए एक रहस्यात्मक मुस्कान ओठों में छुपाये पहले जैसे शायराना अन्दाज में बोले—'आदमी भी गिरगिट से कम थोडे ही होता है। न जाने कितने रंग बदलता है जीवन में। देखती जा अपने भाई जी को भी।'

भाई जी की यह नई वात सुनकर न जाने क्यो एक सिहरन सी दौड़ गई मेरे शरीर में ऊपर से नीचे तक। गर्दन मोड़कर भाई जी के चेहरे को देखना चाहा गौर से और इसी प्रयास में बगल से गुजर रही भारतीय नारी के एक अमरीकी सस्करण से टकराते-टकराते रह गई। ग़लती दोनो मे से किसी की नहीं थी। मैं तो भाई जी की ओर मुखातिब थी और उस जीन्सधारिणी किशोरी का ध्यान स्वय अपनी उस आकर्षक देह-यष्टि पर केन्द्रित था, जिसे देखकर अगल-बगल से गुजर रहे राहगीर ऐसे बिदक रहे थे, जैसे कोई अजूबा आ गया हो सामने।...और राहगीर ही क्यो, रंगीनियत से सराबोर सैक्सी पत्रिकाओ और पुस्तको के उस दूरतक फैले स्टाल पर खडे ग्राहक और तमाशाई भी, नग्न नारी चित्रों की ओर से गर्दनें मोड़-मोड़कर वस्त्रावृत नग्नता के इस जीवित 'माडल' को घूर-घूरकर देखने और आँखों ही आँखो में निगलने से बाज नही आ रहे थे। लड़की की अत्याधुनिका मातश्री भी उसके साथ ही थीं और उनके गौर मुख पर अवसाद की काली छाया स्पष्ट थी। उनकी उस अवसाद-भावना के पीछे अन्य जो भी कारण रहा हो, तीनों ओर से मंडरा रहे पुरुष वर्ग की वे आक्रामक-बुभुक्षित निगाहे तो हरगिज नही थी जो पुत्री की प्रस्फुटित मांसलता पर जम जमकर फिसल रही थी और फिसल-फिसलकर जम रही थी और इस प्रक्रिया में जो उसकी यौवन—श्री के प्रत्येक उतार चढ़ाव का भरपूर लेखा-जोखा लेने पर आमादा थी। उन निगाहों का

अहसास दो, उलटे, उन्हें एक अपूर्वगर्वजनित सन्तोष की ही अनुभूति करा रहा था जो रह-रहकर उनकी आँखों की राह से चमक उठता था। दुःख तो शायद उन्हें इस बात का था कि जो बेरहम निगाहें उनकी चुस्त पोशाक धारिणी पुत्री को सरेबाजार नंगा किये डाल रही हैं, वही उनकी अपेक्षाकृत निरावृत तन- विभूति को एकदम अनदेखा किये जा रही हैं।......अभी मैं माता-पुत्री के इस विचित्र भावनात्मक सम्बन्ध का कुछ और विश्लेषण करती कि तभी भाई जी ने ठहोका देकर, मेरा रुख काफी हाउस के प्रशस्त दरवाजे की ओर कर दिया।

काफी हाउस में उस समय तक अधिक भीड़ भाड़ नहीं हुई थी। भाई जी द्वारा चुनी गई, खिड़की के पास लगी मेज तक हम लोग अभी पहुँचे ही थे कि भाई जी के 'फेवरिट' बैरे 'मक़बूलमियाँ' ने आकर सलाम दाग़ दिया और साफ़-सुथरी मेज पर फिर से झाड़न फेरने लगे। भाई जी ने कुर्सी पर बैठने से पहले एक विहंगम दृष्टि काफी हाउस के उस विशाल हाल पर डाली, इस छोर से उस छोर तक और फिर बड़े इत्मीनान से मक़बूल मियाँ के बाल-बच्चों और उसकी बीमारी का हालचाल पूछकर, पाँच मिनट के भीतर गर्मागर्म डबल-स्पेशल काफी प्रस्तुत होने की गारन्टी पर काफी के साथ मसाला—डोशा और चीज-पकौड़ा का आर्डर फ़रमा दिया। तमाकू की पाउच जेब से निकालकर मेज पर रखते हुए बोले—'हाँ अब कह, क्या कह रही थी।'

तब तक मकबूल मियाँ दो गिलास पानी मेज पर रख गये थे।

पानी के दो घूंट पीकर मैंने भाई जी के प्रफुल्ल मूड का थोड़ा सा रंग अपने ऊपर भी चढ़ाने की चेष्टा करते हुए कहा—'मैं कहाँ कुछ कह रही थी। आप ही चाची की बात कहने जा रहे थे कुछ कि बीच में यह गिरगिट आ गया आपका।'

भाई जी बड़ी मीठी हंसी-हंसे मेरी बात पर—बिलकुल वैसे ही जैसे

पहले कभी हंसते थे मेरी बचकानी बातों पर। हंसते-हंसते बोले—'अरे—नो। वो तो मैं मुद्दे की बात कह रहा था।'

पाइप सुलगाकर कुछ गम्भीरता पर उतर आए भाई जी और पास की मेज़ों पर जमे काफी-प्रेमियों के कर्ण-कुहरों में भाई-बहिन की तू-तड़ाकवाली गुफ्तगू न पड़े, इसीलिए शायद अपना स्वर भी काफी धीमा कर लिया।

'अच्छा तू ही बता, चाची के पास कौन सा मुद्दा है मुझसे और तुझसे नाराज़ रहने का। क्यों हम दोनों से खार खाये रहती हैं, हरदम?'

'क्यों उनके पास तो मुद्दे ही मुद्दे हैं।'

'जैसे?'

'जैसे' का जवाब देने जा रही थी कि मक़बूल मियाँ आ गये 'ट्रे' संभाले।

मेज़ पर प्लेटें सजाने लगे मक़बूल मियाँ तो भाई जी ने पाइप दांतों में दबाए-दबाए पूछ लिया—'क्यों अब टो कोई टकलीफ नई ऐ टुमे।'

सुनकर मक़बूल मियाँ ने सतर खड़े होकर अपने कान पकड़ लिए दोनों। फिर खीसें निपोरते हुए भक्ति-विह्वल भाव में बोले-'हुज़ूर का शफ़ा का हाथ लगने के बाद भी—बीमारी रह जाय, क्या मजाल है।'

'ये तो अच्छे खासे शायर मालूम होते हैं'—मुँह से निकल ही तो पड़ा मेरे। पीछे से कुछ पछतावा सा भी हुआ कि मुझे इस तरह की टिप्पणी नहीं करनी चाहिए थी, काफी हाउस के बैरे को लेकर।

तबतक,—'मालूम ही नहीं होते हैं,...हैं'—कहकर भाई जी ने मेरा असमंजस समाप्त कर दिया।

मक़बूल मियाँ—'क़दरानवाज़ी है हुज़ूर की वरना यह नाचीज़ किस क़ाबिल है'—कहते हुए शायराना अदब में और दोहरे हो गये क्षण भर को।

'और महज़ शायर ही नहीं, दिल भी एकदम नवाबी पाया है इन्होंने' भाई जी ने मक़बूल मियाँ की तारीफ में एक जुमला और जड़ा । 'दो बीवियों के रहते तीसरी शादी और की है इन्होंने हाल में ही ।'

'अच्छा ?'

कहने को तो प्रशंसात्मक स्वर में अच्छा कह दिया मैंने मगर मन में कहीं थोड़ी तिक्तता और बेरुखी आ गई ।

इस पर मियाँ मक़बूल शरमाने का अभिनय करते हुए वहाँ से 'वाक-आउट' कर गये ।

'बड़े पहुँचे हुए हज़रत हैं यह', कहते हुए भाई जी फलसफ़ाना अन्दाज में देखते रहे कुछ देर उसी दिशा में, जिधर मक़बूल मियाँ गये थे और फिर जैसे किसी दूसरी ही दुनियाँ से फिर वापस आ गये हों अपनी इस घिसी-पिटी धरती पर, चिहुँककर, मसाला-डोसा और चीज पकौडा की दोनों प्लेटें मेरी तरफ़ कर दीं और काफी का एक प्याला अपनी ओर खींच लिया ।

'क्यों ? आप कुछ नहीं खायेंगे क्या ?' दोनों प्यालों में चीनी छोड़ते हुए मैंने पूछा ।

'जानती तो है तू, तेरी भाभी कितनी ज्यादती करती हैं मेरे साथ खाने-पीने के मामले में ।' एक विचित्र चितवन से मेरी ओर ताकते हुए भाई जी ने कहा । 'आज सुबह क्या-क्या खिलाया है नाश्ते में मुझे, बताऊँ ?'

'हाँ, वह तो पता है मुझे अच्छी तरह से । नजर न लग जाये किसी की आपको, इसीलिए तो डायटिंग के नाम पर अपने कमरे में ही दो सूखे टोस्ट और फीकी चाय का भरपूर नाश्ता कराती हैं आपको'—कहते हुए मेरा स्वर न जाने कैसा रुँधा-रुँधा सा हो गया ।

'ह-ह-ह-ह' काफ़ी हाउस में बैठे हैं, यह सोचकर ही शायद एक धीमा सा ठहाका लगाया भाई जी ने । 'तब तुझे कुछ भी नहीं पता ।'...

'हो सकता है यह भी'—कुछ खीझे स्वर में कहा मैंने ।' 'तीन साल नाइजीरिया में बीते और उसके बाद यहाँ आये दो महीने भी पूरे नहीं हुए । इस बीच मे जरूर कुछ ऐसी बात हुई होगी जो भाभी का आपपर और आपका भाभी पर 'प्रेम' उमड़ पड़ा होगा ।'

'हुँ हु' कह कर भाई जी ने इधर-उधर देखा कि कोई सुन तो नहीं रहा है हमारी बातो को । उधर से निश्चिन्त होकर बुझा हुआ पाइप सुलगाया कोने में खडे होकर और फिर कुर्सी की तरफ लौटते हुए स्नेह भरी झिड़की सी दी मुझे—'अरे डोशा और पकौडा क्यों ठन्डा किये दे रही है इन बासी बातों में ।' कहने के साथ खड़े-खड़े ही एक पकौड़ा टमाटर की चटनी में सानकर मुँह में रख लिया । मुँह चलाते-चलाते ही बोले—

'अब जल्दी से खतम कर इसे.. ...मुझे क्लिनिक भी तो पहुँचना है ।'

भाई जी का मन रखने को मैंने प्लेटें खीच ली अपनी ओर और खाने लगी जैसे-तैसे, बीच-बीच में गुनगुनी काफी के घूँट भरती हुई ।

भाई जी खडे-खडे पाइप से धुआँ उडाते रहे ।

बीच में ही खाने से हाथ रोक कर पूछा मैंने—'क्या बैठेंगे नही ?'

'अब बैठ के क्या होगा ?'

'क्यो मेरी बात का जवाब नही देंगे ?'

'कौन सी बात ?'

'यही कि इधर पिछले तीन सालों में कौन सी ऐसी नई बात हुई है कि भाभी इतना ज्यादा ख्याल रखने लगी हैं आपका ?'

'ज्यादा' शब्द पर कुछ अधिक ही वज़न पड़ गया मेरे बोलने में ।

'हु-हु-हु-हु' करते हुए भाई जी ने फिर इधर-उधर देखा । आसपास की मेजें खाली देखकर निश्चिन्तता द्विगुणित हो गई उनकी ।

'और कि यह बेजान हँसी हँसना कब से सीख लिया है आपने ?'

'हुँ हु-दे जाउ न हँसी' बुझे पाइप मे जान डालने की असफल चेष्टा करते हुए भाई जी फिर कुर्सी मे धंस गये भोंहे सिकोडे ।

मगर माथे पर आये हुए बलों को अगले ही क्षण साफ कर लिया भाई जी ने। झीनी सी हंसी हंसते हुए दबे स्वर में बोले—'इन बेकार के पचड़ों में मत पड़ तू और अपनी भाभी के बारे में भी कोई ग़लत धारणा मत बना।......तेरे भैया के प्रति उसके प्रेम में कहीं कोई कमी नहीं आयी है। फिर भी शादी के अठारह साल बाद भी माँ न बन पाने का दुःख तो उसे है ही।'

'और आपको नहीं है वह दुःख ?'

'मुझे ?' भाई जी ने चौंकने का सा नाटक किया।

'हाँ, आपको।'

'मगर मेरे लिए टीपू जो है !' भाई जी के स्वर में जो अचकचाहट थी, वह मुझसे छिपी न रही।

'मगर वह आपकी सन्तान तो नहीं है ?'

'मगर मेरे भाई का पुत्र ही तो है वह,' भाई जी बड़े बलपूर्वक बोले।

किन्तु उनका यह अभिनय किसी और को तो विश्वसनीय लग सकता था मगर उनकी यह दीपा बहिन उनके इस उत्तर को नहीं पचा पाई। उतने ही बल के साथ मैंने भी कह ही तो दिया—'वही भाई जी, आपको फूटी आँखों नहीं देख सकता।'

'यह किसने कहा तुमसे ?' भाई जी ने भोली भाली मुद्रा बनाने का प्रयास करते हुए कहा।'

'कहा किसी ने नहीं मुझसे—मैंने अपनी इन्हीं आंखो से जो देखा है, वही कह रही हूँ।'

'हूँ sss'—भाई जी का जलधि-गम्भीर स्वर निकला।

'क्या कुछ ग़लत कहा मैंने ?'

'पता नहीं क्या ग़लत है और क्या सही ? पहले सोच लेने दे मुझे।'

'सोच तो आप बहुत चुके हैं और दिन रात सोचते ही रहते हैं,

हंसी और ठहाकों के इस बनावटी मुखौटे के पीछे। मगर असलियत क्या है, यह आपसे अधिक शायद कोई नहीं जानता।' उसी पुरानी रौ में कहती चली गई मैं।

इस पर भाई जी बोले कुछ नहीं, बस देखते भर रहे मेरी ओर।

इस बीच मियां मकबूल फिर एक बार नूमदार हुए और बिल के पैसों के साथ अच्छी खासी बख्शीश भी ले गये अपनी।

मक़बूल के जाने के बाद मुझे ही उस तनावपूर्ण मौन को तोड़ना पडा। भभकते स्वर में बोल उठी मैं—'आखिर को गंगाधर उसी मां का पुत्र है न, जो नित्य आपके विनाश के लिये टोटके कराती रहती हैं पंडित कन्हैयालाल से।'

'फ़िजूल बात'—मरा मरा सा स्वर निकला भाई जी का।

'फिजूल बात नहीं है यह।' आविष्ट सी बोलती चली गई मैं। 'आप यह जानना चाह रहे थे न कि चाची जी को हम दोनों से या खास कर आपसे क्या शिकवा-शिकायत है,.. वही बता रही हूँ मैं।'

'तुझे—कुछ ग़लतफ़हमी हुई लगती है'—भाई जी बोले।

'ग़लतफ़हमी मुझे नहीं आपको है, अपने भाई गंगाधर और चाची दोनों को लेकर।'

'चल यही सही—अब तो उठ' कहकर भाई जी ने बात को वहीं समाप्त करना चाहा।

मगर मैं बात समाप्त करने के मूड में नहीं थी। न चाहते हुए भी कह उठी, 'मगर अब तो आप मानेंगे कि आपको भी सन्तान-हीनता का क्लेश साल रहा है, जिसे आप बेमानी ठहाकों के पीछे छिपाने का प्रयास करते हैं निरन्तर।'

भाई जी कुछ क्षणों तक मौन रहे। फिर बोले,—'मगर मुझे वास्तव में अपनी सन्तान न होने का कोई क्लेश नहीं है।'

चौंक कर मैंने भाई जी के मुख की तरफ इस तरह देखा जैसे उनके मुंह से कोई नितान्त अश्लील गाली निकल गई हो।

वे फिर बोले—'जानती है क्यों ?

मैं फिर भी कुछ नहीं बोल पाई।

'इसलिये, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मैं सन्तान पैदा करने के अयोग्य हूँ। पूरी डाक्टरी जांच करवा चुका हूँ अपनी।' कह कर भाई जी कुर्सी छोड़ उठ खड़े हुए।

'क्या ऽऽ ?' मेरे मुंह से निकला बेसाख्ता।

मगर भाई जी चुप रहे।

मेरे लिए भी, इसके बाद बात बढाने का और कौन चारा था। भौंचक सी मैं उनके पीछे हो ली चुपचाप।

□□

चार

भाई जी एक छोटी सी बात कहकर कितना गहरा घाव लगा गये थे, इसका पूरा अहसास उस समय नहीं हो सका था मुझे। सोचने-समझने की जैसे सारी शक्ति ही चुक गई हो,—कुछ ऐसी ही अवस्था में रिक्शा करके काफी हाउस से कालेज चली आई। पहले सोचा था कि समय से कुछ पहले पहुँचकर, कालेज के पुस्तकालय में उन पुस्तकों का पता लगाऊँगी, जिनकी प्रसन्न को बड़ी शिद्दत से तलाश थी अपनी थीसिस के लिए। सोचे बैठी थी कि अगर पुस्तकें कालेज के पुस्तकालय मे न हुईं तो प्रिन्सिपल मिस घोष से अनुरोध कर उनके लिए आर्डर करा दूँगी बम्बई की उस फर्म को जिसका नाम प्रसन्न ने बताया था। एक पुस्तक पश्चिमी संगीत पद्धति पर थी और दूसरी चीन की प्राचीन-अर्वाचीन संगीत-पद्धतियो को लेकर थी। दोनो ही पुस्तकें काफी क़ीमती थीं—प्रसन्न की हैसियत के बाहर। और ऐसे मामलो मे मैं किसी रूप में सहायक हो सकूं, यह विचार ही प्रसन्न को असह्य था। मगर मुझे विश्वास था कि मेरी सहृदया और संगीत मर्मज्ञा प्रिन्सिपल मेरा अनुरोध ठुकरायेंगी नही और दोनों ग्रन्थ जरूर मंगवा देंगी कालेज लाइब्रेरी के लिए।.......मगर कालेज जिस मन:स्थिति में पहुँची थी, उसमें लाइब्रेरी में जाकर कैटलाग से छानबीन करना या उनके लिए प्रिन्सिपल से मिलना, बड़ा ही दुष्कर लगा। लिहाजा स्टाफ रूम में ही जाकर निढाल सी एक आराम कुर्सी मे पड़ गई। पांच-छ: टीचर्स और भी थीं स्टाफ रूम मे उस समय मगर उनमे से कुछ अखबार पढ़ने में और कुछ आपस में बातचीत करने मे मशगूल थी। किरन जैतले प्रवेश परीक्षा की कापियां जांचने में तल्लीन थी। अखबार से उठी कई नजरों का मेरी दिशा में एक

क्षणिक निक्षेप भर हुआ और फिर एक हल्की सी 'रेडी मेड' मुस्कान, बस। इसके अलावा किसी ने मेरा कोई खास नोटिस नहीं लिया।

कुर्सी में लेटे-लेटे ही पिछले दिन कही गई भाई जी की वह बात मन में एक बार फिर गूंज गई……लगता है, भाई-बहिन दोनों का भाग्य विधाता ने एक ही क़लम से और एक ही शब्दों में लिखा है।

सोचने पर लगा कि भाई जी की बात में सचाई केवल आधी ही है। हम दोनों भाई-बहिनों की क़िस्मत एक ही क़लम से भले ही लिखी गई हो मगर एक ही शब्दों में हरगिज नहीं। वरना क्या, जिसे सन्तान चाहिए वह विवाह के अठारह साल बाद भी निस्सन्तान रहता और जिसका सन्तान से कोई वास्ता ही नहीं होना चाहिए वह बिना शादी-व्याह के ही अवांछित गर्भ का व्यर्थ बोझ अपनी कोख में ढो रही होती।

मगर अवांछित बोझ भी कैसे कहूँ अपने इस गर्भस्थ शिशु को। जेठ मास की पहली बदली के तले भीगे हुए बम्बई और पुणे में एक दूसरे के एकान्त सान्निध्य में प्रथम बार बीती उन साढ़े तीन रातों में जो कुछ हुआ था—या घटित हुआ था, वह पूर्णतया मेरी मर्ज़ी से ही तो-या सच कहूँ तो मेरे आग्रह या दुराग्रह पर ही तो हुआ था। प्रसन्न की तो कोशिश वहाँ भी मुझसे दूर ही दूर रहने की थी। मैंने ही एअरपोर्ट से फोन करके बम्बई के उस साधारण से 'टूरिस्ट लॉज में अपने और प्रसन्न दोनों के लिए सटे-सटे दो कमरे बुक कराये थे।……और पुणे में भी मैंने ही संगीत-सम्मेलन के आयोजकों की लल्लो-चप्पो करके, ऐसी व्यवस्था कराई थी कि वहाँ भी हम दोनों यदि होटल के सटे हुए कमरों में नहीं तो कम से कम एक ही 'फ्लोर' पर रह सकें।

—'हाँ, प्रसन्न का इतना दोष जरूर था कि उन्होंने ही मुझे नाइजीरिया में काफी पहले से पत्र लिखकर पुणे में होने जा रहे अखिल-भारतीय संगीत सम्मेलन की सूचना दी थी और उन्होंने ही कोशिश करके आमंत्रित कलाकारों की सूची में मेरा भी नाम शामिल कराया

था। सूचना न मिलती तो अपना पूरा प्राप्य अवकाश-काल यूरोप के दो चार-देशों के भ्रमण में बिताकर शायद सम्मेलन के चार छ: दिन बाद ही भारत लौटती। कम से कम शुरू में मैंने यही कार्यक्रम बनाया था। मगर संगीत-सम्मेलन की सूचना मिलते ही या कहना चाहिए कि यह उम्मीद बँधते ही कि बम्बई में प्रसन्न होंगे एअरपोर्ट पर मेरा स्वागत करने को तथा संगीत सम्मेलन के बहाने ही सही, पुणे में दो तीन दिन उनके सान्निध्य मे रहने को मिलेगा मुझे, मैंने अपना पुराना कार्यक्रम निरस्त करने में और निर्धारित तिथि पर बम्बई के लिए सीट बुक कराने में एक क्षण का भी तो विलम्ब नहीं किया था।······कैसी विडम्बना थी कि जिस प्रसन्न को भुलाने के लिए, तीन वर्ष के लिए देश-निकाला दिया था मैंने अपने आपको उसी को देखने की, उसीसे मिलने की ऐसी उद्दाम विकट लालसा?

अपने इस बदले हुए कार्यक्रम की सूचना मैंने भाई जी को भी नहीं दी थी। कारण स्पष्ट ही था। यह अपूर्व स्वर्णावसर जो भाग्यवशात् अयाचित रूप से ही मेरी राह में आ गया था, उसे मैं समग्र रूप से प्रसन्न और अपने तक ही सीमित रखना चाहती थी।······हाँ, अपनी प्रिंसिपल को केबिल द्वारा सूचित अवश्य कर दिया था मैंने कि अब मैं पन्द्रह जुलाई की जगह शायद पहली जुलाई से ही कालेज में अपना पद भार पुनः संभाल सकूँगी।

बम्बई पहुँचने के बाद तो, पता नहीं नियति के किस अदृश्य संकेत पर सब कुछ मेरी इच्छानुसार ही घटता चला गया। तीन वर्षों के लम्बे अन्तराल के बाद देश की पावन-धरती के प्रथम स्पर्श के साथ ही पुलक एवं रोमांच की जिस सुखद अनुभूति ने मेरे तन-मन को आप्लावित कर दिया, वही पुलक आने वाले तीनों दिन और तीनों रातें मेरे अशेष अस्तित्व पर छायी रही। पुणे के विष्णु दिगम्बर सभागार में आयोजित संगीत सम्मेलन के विभिन्न सत्रों में, सुबह-शाम होने वाली विचार

गोष्ठियों में, संगीतज्ञों के सम्मान में योजित विशिष्ट सामाजिक-आयोजनों में—सभी जगह तो वही सुखद स्वस्तिकर अनुभूति मेरे साथ रही, मुझे अभीष्ट प्रेरणा एवं उत्साह प्रदान करती हुई। वरना पुणे जैसी कला-प्राण नगरी का वह विशाल महिमा मंडित विष्णु-दिगम्बर सभागार और उसमें आसन जमाये हुए पन्द्रह सौ से ऊपर कला-प्रेमी श्रोतागण और उनमें भी शताधिक यशस्वी संगीत-पंडित, मर्मज्ञ एवं समीक्षक, जिनके सामने मन्च पर आते ही कदाचित् मेरी सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाती। और इसी सम्मानित श्रोता समूह के बीच मैंने जब वायलिन पर बागेश्वरी अंग के माल गुंजी राग की अवतारणा की रात्रि के दूसरे प्रहर में, तब, मुझे खुद नहीं मालूम कि कौन मेरी सम्पूर्ण चेतना को सम्मोहित सा किये रहा बराबर और उसी सम्मोहन में बँधी मैं वायलिन के तारों के माध्यम से वादन-कला के और लयकारी के उन आयामों को छूने का सफल प्रयत्न करती रही, जो सामान्यतः मेरी शक्ति से बाहर थे। वह सम्मोहन तभी टूटा जब लगभग ३२ मिनट की अखण्ड निस्तब्धता के बाद अचानक ही सारा सभागार तालियों की तुमुल गड़गड़ाहट से एवं साधुवाद-वचनों की वर्षा से ध्वनित हो उठा और प्रसन्न के साथ आये वाराणसी के प्रसिद्ध तबलावादक शीतांशु वसु पसीने और थकान से लस्त-पस्त हो तबले की जोड़ी से हाथ खींच कर नत मस्तक हो गये मेरे सामने।

उस समय भी वही पुलक-अनुभूति मानो मेरे मस्तक पर अपना वरदहस्त टेके ठीक पीछे खड़ी थी मेरे……और मेरे सामने श्रोताओं की पहली पंक्ति में बैठे थे प्रसन्नवदन प्रसन्न-मेरे गुरु, मेरे प्रणेता और मेरी प्रेरणा के अजस्र स्रोत-अपने विस्मय-विस्फारित नेत्रों में मेरे लिए अपार प्रशंसा-भाव भरे। तभी समझ पाई थी मैं कि मेरी सहचारिणी उस पुलक-अनुभूति का वास्तविक उत्स कहाँ है और डगमगाते पैरों से मंच से उतर कर मैं उनके चरणों में झुक गई थी अनन्य श्रद्धाभाव से।

काका पंडित के अत्यन्त मनोहारी सितार-वादन के साथ ..

ढाई बजे उस रात्रिकालीन सत्र का समापन हुआ था। सारंग होटल, जहाँ बाहर से आये कलाकारों की आवास व्यवस्था थी, पहुँचकर अपने अपने कमरों मे जाने के बजाय, कुछ देर के लिए होटल के दिवा-रात्रि खुले काफी-बार में ही ठिठक गये थे हम दोनों। वहीं काफी पीते हुए प्रसन्न ने कहा था न जाने कैसे भीगे-भीगे से स्वर में—'आज तो तुमने मेरी और लखनऊ की लाज रख ली दीपा।'

'सगीत मार्तण्ड श्री प्रसन्न जोशी की शिष्या हूँ न ?' मैंने किंचित कौतुक भरे अन्दाज में कहा था।

'नही दीपू, मजाक नही। सारा हाल मन्त्र मुग्ध था। आनन्द भाई होते यहाँ आज तो जाने क्या इनाम दे डालते तुम्हे।'

'और आप क्या इनाम देंगे मुझे ?' मेरे मुँह से निकल ही तो पड़ा।

'हूँ-हूँ—आप नही—यहाँ कौन है बाहर का।' प्रसन्न का वर्जना भरा ऐसा स्वर बड़ा प्रिय लगता था मुझे। उत्तर में कह उठी थी—'अच्छा तुम्ही सही—बोलो क्या इनाम दोगे मुझे।'

'मेरे पास अब क्या रह गया है देने को तुम्हें दीपा'—प्रसन्न के मुख से तो केवल यही थोड़े से शब्द निकले लेकिन उनकी उदास-उदास सी दृष्टि इसी बीच में जाने क्या-क्या कह गई। यह उदासी पहले नही थी उनकी आँखों मे। 'आप क्या इनाम देंगे मुझे'—मेरे इस प्रश्न ने ही शायद उनके मर्म में रिसते आ रहे किसी पुराने नासूर को छू लिया था और उन्हें विषण्ण—चित्त कर दिया था।

मगर उदासी का यह भाव ज्यादा देर ठहर नहीं पाया। दो-चार क्षण मेरे चेहरे को अपनी गमगीन निगाहो से टटोलने के बाद ही उनका मूड फिर बदल गया। सिर के एक झटके से ही उदासी के उस बादल को एक ओर झिटक कर पहले जैसे उत्फुल्ल स्वर में बोले—'मगर उसे छोड़ो—आज तुमने दोनों गन्धार और दोनों निषाद का जो निगूढ़ प्रयोग किया—विशेषकर उत्तराग मे वैसा प्रयोग पंडित रविशंकर के अलावा

अन्यत्र कहीं सुनने को नहीं मिला मुझे। मंच पर बैठे बड़े-बड़े दिग्गजों की गर्दनें झुमेटा खाकर रह गई थीं उस पर।'

'यह सब तुम क्या सचमुच कह रहे हो?' अवश-विह्वल भाव से बोल उठी थी मैं।

'असत्य तो मैं आजतक तुमसे कभी नहीं बोला।' कहकर प्रसन्न ने मेरे एक हाथ को अपने दोनों हाथों में दबा लिया था। मेज पर रक्खी काफी ठंडी होती रही थी और हम दोनों विचारों में खोये बैठे रहे थे देर तक। निगाहें बीच-बीचमें मिल भी जाती थीं और फिर खो-खो जाती थीं मेरे और प्रसन्न के चेहरों के बीच,-मेज की चौड़ाई भर की, उस अनन्त दूरी में। 'हमारे इस प्रेम का क्या होगा, आखिर'—मेरी चेतना का कण-कण मानो जवाबतलब सा कर रहा हो मुझसे। प्रसन्न के मुख पर आ जा रहे उतार-चढ़ाव से भी स्पष्ट था कि शायद यही प्रश्न, अपने विभिन्न रूपों में उनके भी मन को मथ रहा था उस घड़ी।

'मैं तो...सोचता था'—लम्बे मौन को तोड़ते हुए प्रसन्न ही बोले थे आखिरकार।

'क्या सोचते थे?' —आगे की बात की प्रतीक्षा किये बिना ही, बोल उठी थी मैं।

'यही कि शायद तुम नाइजीरिया में मेरे साथ-साथ अपना संगीत भी भूल गई होगी।'

'और इसे तुम क्या कहोगे—मेरा सौभाग्य या दुर्भाग्य कि मैं न तुम्हें ही भूल पाई और न तुम्हारे दिये हुए संगीत को ही।' अपना ही स्वर मुझे अचीन्हा सा लगा उस क्षण।

'तुम शायद यह कहने जा रहे हो'—आगे भी उसी स्वर में कहती गई थी मैं—'कि संगीत नहीं भूल पाई मैं, यह मेरा, सौभाग्य और तुम्हें मन से नहीं निकाल पाई—यह मेरा दुर्भाग्य। क्यों, यही कहने जा रहे थे न?......मगर तुम्हें तो मालूम होना ही चाहिए कि प्रसन्न और

संगीत मेरे लिए अलग-अलग थो नही है। प्रसन्न ही तो मेरा संगीत है। उसी के ही तो बल पर नाइजीरिया में—नितान्त अपरिचितों के बीच तीन वर्ष काट आई। आगे भी तुम्हारा यह संगीत तो रहेगा ही मेरे पास, जीवन की कठिनतम घड़ियों में मुझे सहारा देने को।......कल तुम्हें संगीत मार्तण्ड की उपाधि से विभूषित करेगी महाराष्ट्र की संगीत-अकादमी। यह उपाधि भी क्या है वैसे तुम्हारी संगीत-साधना के सामने, जिसने पिछले दो दिनों की दो बैठकों में ही इस संगीत सम्मेलन में आये सभी संगीत महारथियों को निस्तेज कर दिया यकबारगी ही। और इतना ही क्यो? इसी तुम्हारी साधना ने ही तो तुम्हारे उस गवेषणा पूर्ण पत्रक के माध्यम से नाद और शब्द के अपरिहार्य सम्बन्धों को लेकर गायन कला के नये आयाम प्रशस्त कर दिये संगीत-शास्त्र के पारंगत विद्वज्जनो के सामने।...बस वही मार्तण्ड मेरा पथ-प्रदर्शक बना रहे मेरे शेष जीवन भर, मध्याकाश मे ही अवस्थित वह मार्तण्ड जगत् को प्रकाशदान करता रहे, मानव मन की अन्धकार पूर्ण गुहाओं को नित्य नवीन उजालों से आप्लावित करता रहे...बस यही प्रार्थना करती रहूँगी भगवान से।......क्यो ठीक है न?'

'ठीक है', कहकर प्रसन्न उठ खडे हुए थे मेरा एक हाथ यत्नपूर्वक अपने हाथ में दाबे हुए। मोहाविष्ट सी उनके पीछे चलती हुई कब मैं अपने कमरे के बजाय उनके कक्ष मे ही जा पहुँची, मुझे पता ही नहीं चला। बस इतना मालूम है मुझे कि उस रात प्रकृति ने उद्दाम रूप धारण कर लिया था अचानक ही और हम दोनों ही सो नही पाये थे एक पल भर को भी।

° ° °

'लो भई स्वप्नसुन्दरी ने भी आखिर शादी रचा ही डाली भरमेन्दर के साथ'—काफी ऊँची आवाज में कहे गये इस वाक्य ने जैसे मेरी समाधि भंग कर दी हो। गर्दन मोड़कर देखा तो विवाह-समाचार की

उद्‌घोषिका के बारे में मेरा अनुमान ठीक ही निकला । शैफाली जायसवाल ही मुड़े हुए अखबार को एक हाथ में लिए, दूसरा हाथ हवा में फेंक—फेंक कर हेमामालिनी और धर्मेन्द्र के विवाह पर टीका-टिप्पणी कर रही थी बड़े जोश-खरोश के साथ । दिल्ली के किसी अखबार में एक दिन पहले ही यह समाचार पढ़ चुकी थी मैं । कोई नई चौंकानेवाली बात थी भी नहीं उसमें । बहुत दिनों से लोग जानते थे कि ऐसा ही होगा अन्ततः । अतः मिस जायसवाल की बात में आगे रुचि न लेकर मैंने गर्दन फिर सीधी कर ली ।

'और यही नहीं, स्वप्न सुन्दरी माँ बनने की भी तैयारी में है ।' उसी आवाज में टिप्पणी आगे बढ़ी ।

इस बार मुझे सचमुच कुछ चौंकना पड़ा । यह खबर मेरे लिए भी नई थी । मगर मैंने कुर्सी पर अपना आसन नहीं बदला । केवल अपनी कर्णेन्द्रिय को उस दिशा में केन्द्रित भर कर दिया ।

'और इस पर वो पिछले दिनों के सुपर हीरो धरमेन्दर साहब फरमाते क्या हैं, यह भी तो सुन लो ।'

शायद बीच में बीना वाली कुछ बोल उठी थी । उसी के समाधान स्वरूप मिस जायसवाल घटना की पूरी व्याख्या करने को आकुल थी ।

'अरे छोड़ो भी—हमें क्या लेना-देना इस सबसे'...यह तीसरी आवाज मिसेज त्रिपाठी या अधबूढ़ी कुमारी कृष्णा भल्ला दोनों में से किसी की भी हो सकती थी । मगर मिस शैफाली इस तीसरी आवाज को पूर्णतया अनसुना करके कहती चली गई ।...

'कहता है कि आज भी वह अपनी पत्नी से उतना ही प्रेम करता है, जितना पहले करता था और कि हेमा से विवाह अपनी पहली पत्नी की सहमति से ही किया है ।'

'सब बकवास है ।'...तीन बार की तलाकशुदा और समाजशास्त्र की प्राध्यापिका मिस जुल्हेरी भी शायद नियंत्रण नहीं रख पाई अपने

ऊपर और परिसंवाद में कूद पड़ी बीच में ही। मिस जुव्हेरी की नकयायी आवाज दूर से ही पहचानी जा सकती थी। नकयाया स्वर आगे भी जारी रहा। 'आदमी हो या औरत मुहब्बत बस एक से ही हो सकती है एक समय में।......और फिर कोई औरत अपने होशो-हवास में अपने शौहर को दूसरे के हवाले नही कर सकती। खाविन्द की मुहब्बत में हिस्सा बटाना औरत की फितरत के खिलाफ है।'

'मगर फिल्मों में काम करनेवाली इन औरतों के क्या हृदय नही होता?'—यह आवाज निश्चय ही मिसेज त्रिपाठी की थी। 'अपनी ही जैसी किसी औरत का सर्वनाश करते, उसके घर मे सरेआम डाका डालते जरा सा भी कलक नही लगता इन लोगों को।'

'अरे फिल्मवालियों को ही क्यो दोष देना? भले घरो की लड़कियाँ और समाज को आदर्श का पाठ पढ़ानेवाली औरतें भी इन मामलों में कहाँ पीछे हैं आजकल।'

शैफाली जायसवाल का यह कटाक्ष मुझे लेकर ही था, इसमे सोचने विचारने की गुंजाइश नही थी। 'तो प्रसन्न का और मेरा प्रणय-प्रसंग अब मेरी अपनी ही गोपनीय निधि नही रहा। औरों को भी भनक लग ही गई इसकी।' सोचकर तन कसमसा सा उठा कुर्सी में और चेतना पर छाया अवसाद का बोझ थोड़ा और भारी हो गया। मन हुआ कि मैनेजर संकटा प्रसाद अग्रवाला के इशारों पर नाचनेवाली शैफाली और उसकी सहयोगिनियो—मिसेज त्रिपाठी और कृष्णा भल्ला को कमरे से बाहर निकल जाने को कहूँ और फिर कमरा बन्द करके, मेरे दुखदर्द को थोड़ा बहुत समझनेवाली किरन जैतले के कन्धे पर सिर रखकर रो लूं अच्छी तरह से।

मगर तभी स्टाफ रूम की परिचारिका जानकी, प्रिन्सिपल मिस घोष का सन्देश ले आई मेरे लिए। लगा जैसे एक दूसरा रास्ता खुल गया हो मेरे लिए उस खलमंडली से परित्राण पाने का और मैं मन ही मन मिस घोष को धन्यवाद देती हुई उनके कक्ष की ओर चल पड़ी। □

पांच

मगर प्रिन्सिपल मिस घोष से भेंट हो नहीं पाई उस दिन। प्रधानाचार्या कक्ष में अन्दर जाने तक की जरूरत नहीं पड़ी। कक्ष के बाहर बैठे बूढ़े चपरासी रामजस ने ही बता दिया—'प्रिन्सिपल साहब तो सचिवालय चली गईं अब्बैही दुई मिनट पहिले। मनीजर साहब की गाड़ी आई रही।'

'फिर मुझे मिलने के लिए संदेश क्यों भेजा था जानकी के हाथ ?'

थोड़ी तल्खी भरे स्वर में पूछे गये मेरे इस प्रश्न पर रामजस स्टूल से उठकर खड़ा अवश्य हो गया मगर प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दे सका।

निराश हो लौट पड़ी 'स्टाफ-रूम' की ही ओर। तब तक हलकी हलकी बूंदें पड़ने लगी थी और आकाश सुरमई घटाओं से आच्छादित हो उठा था। देखकर बड़ा अच्छा लगा। जी में जो मतलाहट सी शुरू हो रही थी, वह भी कुछ शान्त होती सी लगी, हवा के फुहार भरे झोंको से। क्षण भर को वहीं बराम्दे में ही ठिठक गई एक खम्भे का सहारा लेकर। स्टाफ रूम में वापस जाने की तबियत नहीं हो रही थी और कालेज में रुकने की या लाइब्रेरी में जाकर लाइब्रेरियन से बात करने की भी इच्छा नहीं थी। मन विचित्र ऊहापोह में था, क्या करूं कहां जाऊं।

तभी स्टाफ रूम का दरवाजा खुला और किरन जैतले बाहर निकल कर आई। मुझे वहां बराम्दे में उस तरह खड़ा देखकर चौंक कर रह गई। शायद अपना क्लास लेने जा रही थी। मगर ठिठक गई बीच में ही।

थोड़ा और पास आकर सचिन्त भाव से पूछा—'क्या बात है दीपा दीदी ?—यहां कैसे खड़ी हो यूं। क्या तबीअत खराब है कुछ ?'

उम्र में मेरे बराबर ही थी—शायद साल छः मास छोटी ही रही हो। मगर स्नेह से मुझे दीदी कहती थी। मुझे भी उसे छोटी बहिन

जैसा व्यवहार देने में बड़ा सन्तोष मिलता था। शायद इसलिए कि क़िस्मत की कुछ खोटी थी वह भी।

'कोई खास बात तो नहीं'—जबरन ही एक फीकी सी मुस्कान होंठों पर संजोने का प्रयास करते हुए मैंने कहा।

'खास बात कैसे नहीं।...चेहरा एक दम पीला-पीला सा लग रहा है।' किरन ने मेरा हाथ थामते हुए कहा। 'स्टाफ रूम में जब आई थी तुम, तभी मुझे कुछ अजीब सा लगा था—मगर उन चुड़ैलों के सामने...'

'वह तो ठीक ही किया तुमने। मगर सच ही कह रही हूँ किरन मेरी तबीअत को खास कुछ भी नहीं हुआ है। तुम क्लास लेने जा रही थी न,—जाओ'—कहते-कहते मुझे लगा कि जी फिर मतला रहा है मेरा।

'अब मैं क्लास व्लास लेने कहीं नहीं जा रही हूँ...अब मैं तुम्हें अपने घर लिए चल रही हूँ—या कहो तो तुम्हें तुम्हारे घर 'ड्राप' कर दूँ।'

'नहीं उसकी कोई जरूरत नहीं है किरन—मैं ठीक ही हूँ और फिर अभी मुझे क्लास लेना है पौने दस बजे।' मैंने किरन के सहृदयता भरे सुझाव के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापक स्वर में कहा।

'क्लास को मारो गोली'—किरन किंचित तेज, स्वर में बोली। 'कहीं कोई पढ़ाई का 'अट्मास्फीअर' भी हो। पुरानी लड़कियाँ 'रैगिंग' में मशगूल हैं और नई लड़कियाँ नये माहौल में अपने को 'एडजस्ट' करने में। दिन भर बिचारियों का अपनी नई-नई पोशाकों की सिलवटें सभालते ही बीतता है।'

किरन की बात में अतिरंजना नहीं थी कहीं। मगर जिस मुखमुद्रा के साथ उसने नई लड़कियों का खाका खींचा था, उस पर हंसी आ गई मुझे। कुछ कहने जा रही थी कि बी०ए० द्वितीय वर्ष की मेरी छात्रा मधु आ धमकी सामने। मैनेजर सकटा प्रसाद की नवासी थी और कान्वेन्ट

दीक्षित होने से अंग्रेजो और अंग्रेजियत में ऊपर से नीचे तक डूबी हुई। एकदम 'अल्ट्रा-मॉड'।

सामने आते ही चिल्ला सी पड़ी—'हुई, आज आप कितनी 'स्वीट' मगर थकी-थकी सी लग रही हैं मिस, उम्मीद है कि आज आप क्लास लेकर न खुद को और न हमें बोर करने के मूड में होंगी। और फिर मौसम भी तो देखिये। यह क्या क्लास में बैठकर ध-नि-म-प-ध-नि-प करने का है या पॉप म्यूजिक और डिस्को-डान्स में खो जाने का। इजाजत हो तो 'ओडियन' में मार्निंग-शो में 'ब्ल्यू लेगून' देख आऊं!'

'और तुम्हारी अन्य दो साथिनों का क्या होगा?' पूछा मैंने, उसकी प्रगल्भता को नजर अन्दाज करते हुए। वैसे भी मैनेजर की इकलौती पुत्री की इकलौती पुत्री होने के नाते, टीचरों से नौकरों या हमजोलियों के स्तर पर बोलना-चालना तो उसका जन्म-सिद्ध अधिकार था।

'मेरी दोनों 'क्लास-मेट्स' मुझसे ज्यादा समझदार हैं मिस। वे आज कालेज आई ही नहीं।'

'लो अब तो तुम्हें कोई एतराज नहीं है मेरे साथ चलने में?'—मधु की बेबाक बात का सहारा पाकर किरन ने कहा।

पीछे से मधु को सम्बोधित करते हुए किरन ने कहा,—'थैंक्यू मधु फार द कान्सिडरेशन'। तुम्हारी टीचर जी की तबीयत भी आज ठीक नहीं थी।''''''मगर तुम क्या पिक्चर अकेली ही जा रही हो?'

'रोमान्टिक पिक्चर देखी जाय और वह भी अकेले—फिर क्या मजा रहा मिस,'''मगर उस बूढ़ी खुर्राट मिस घोष को और मेरे 'ओल्ड मैन' को तो यह सब नहीं बताएँगी न? 'दैट-ओके—बाई-बाई, चीयर यू' कहती हुई मधु वहाँ से तीर की तरह भाग ली।

मधु के जाने के बाद किरन ने सबसे पहले मिस घोष के रामजस चपरासी को बुलाकर समझाया अच्छी तरह कि अगर प्रिन्सिपल लौटकर पूछें तो कह देना कि खरे बहिन जी की तबीयत खराब हो गई थी अचानक

और कि जैतले बहिन जी उन्हे लेकर डाक्टर के पास गई हैं।' कहकर किरन ने दो रुपये का एक नोट पर्स से निकाल कर रामजस को चाय पीने के नाम पर दिया और फिर मुझे लेकर चल दी स्टाफ रूम के पीछे बनी पोर्च की ओर जहां वह अपनी नई खरीदी कार खड़ी करती थी। पाँच मिनट भी नहीं लगे हमें किरन के माल एवैन्यू अवस्थित आवास पर पहुँचने में।

किरन के उस वातानुकूलित ड्राइंग रूम में पहुँच कर ही मुझे सही मायने में यह अहसास हुआ कि मैं वास्तव में अस्वस्थ थी और मुझे आराम की सख्त जरूरत थी।

किरन के इस आवास में मैं पहली बार ही आई थी। नाइजीरिया जाने से पहले, उसके जिस मकान में मुझे चार-छः बार आने का अवसर मिला था, वह हुसैनाबाद के पुराने-जर्जर रिहायशी मकानों में से एक था। जिसमें वह अपनी विधवा माँ के साथ रहती थी। पिता आर्मी में लफ्टिनेन्ट कर्नल थे मगर उनका सुख ज्यादा नहीं जाना था किरन ने। भरी जवानी में ही एक पर्वतारोहण अभियान मे उनकी अकाल मृत्यु हो चुकी थी। मेरे नाइजीरिया प्रवास की अवधि में ही, उसने मकान भी बदला लगता था और इसी बीच मे एक 'ब्रान्डन्यू' पद्मिनी-फिअट कार की स्वामिनी भी हो गई थी वह।

उसकी इस अप्रत्याशित समृद्धि पर मेरे मन में कौतूहल होना स्वाभाविक था किन्तु उस घड़ी मेरी जो मनः स्थिति थी, उसमें उससे इस बारे में कुछ पूछना-पाछना न तो मेरे लिए स्वाभाविक ही था और न सम्भव ही।

निढाल भाव से सोफे पर अधलेटी पन्ने पलटती रही उस सचित्र पत्रिका के जो किरन अन्दर जाने से पहले मेरे हाथ में पकड़ा गई थी।

मेरी दृष्टि जम ही नहीं पा रही थी कहीं—न तो पत्रिका के किसी चित्र पर और न उसमें छपे किसी लेख पर। रह रह कर शैफाली जायसवाल का वही विद्रूप भरा स्वर गूंज उठता था कानों में···'अब तो माँ, बनने की भी तैयारी में है वह' और इसी स्वर से जुडा-जुड़ा मिसेज त्रिपाठी का वह वाक्य अनुगुंजित हो उठता था—'ये लोग इतनी हृदयहीन क्यों होती हैं—इन्हें किसी दूसरे के घर पर डाका डालते कलक नहीं लगता कुछ ?'

जितना ही विश्लेषण करती थी, इन दोनों वाक्यों का उतनी ही छटपटाहट बढ़ती जाती थी मन की।···वैसे इस विषय पर पहली ही बार सोचा हो ऐसी भी बात नहीं थी। नाइजीरिया जाने से पहले भी लगभग डेढ साल यही सब सोचा था। वहाँ नाइजीरिया में बीते तीन वर्ष भी इसी सोच में कटे थे और इधर भारत लौटने के बाद के इन पौने दो मासों में तो जैसे कोई कीडा घुस गया हो दिमाग में जो घुन की तरह चाटे जा रहा हो दिमाग के रेशे-रेशे को। जब देखो वही किर्र-किर्र। यही एक सवाल अलग-अलग रूपों में—'क्या मेरे लिए ऐसा करना उचित होगा ?—'क्या अपनी जैसी ही एक निरीह नारी को उसके पति-परमेश्वर से वंचित कर सुखी हो सकूंगी मैं ?'—'क्या दो भोले भाले बच्चों से उनके पिता को छीनकर, मातृ-सुख पा सकूंगी कभी।' इस सोच-प्रक्रिया में शान्ति बहिन का वह सीधा-सादा निष्पाप-अकलुष चेहरा न जाने कैसे-कैसे असम्भावित रूप धारण कर करके डराता-धमकाता रहता था मुझे। सिर्फ डराता-धमकाता हो—ऐसा भी नहीं था। कभी-कभी लगता था जैसे तरल नयनों से मेरी अनुनय-विनय कर रहा हो वह चेहरा; मुझसे भीख सी माग रहा हो अपने सुहाग की—अपने बच्चों की सुरक्षा की।

इस सर्व ग्रासी प्रश्न की दिशा भी एक ही नहीं रहती थी सदा। कभी कभी सवाल बिलकुल दूसरा ही मोड़ ले लेता था।···

'क्या ऐसा नहीं हो सकता कि शान्ति बहिन जहाँ की तहाँ रहें और

नन्दन और जयन्ती-दोनों बच्चे भी अपने माता-पिता से अलग न हों—बस मैं ही उस घर की एक अतिरिक्त सदस्या बन जाऊँ ?'

चिन्तन जब भी ऐसा मोड़ लेता था तो मेरा मन भी इस नई संभावित स्थिति के पक्ष में और समर्थन मे अजीब अजीब तर्क देने लगता था। बीते युग के राजाओं -जमींदारों के, यहाँ तक कि धार्मिक नेताओं और समाज में गण्य-मान्य कहे जाने वाले व्यक्तियों के नाम गिनाने लगता था और वर्तमान युग की भी अनेक नामी हस्तियों के उदाहरण सामने रखने लगता था। कभी-कभी तो वस्तुत: ऐसा लगने लगता था कि दूसरे विवाह को निषिद्ध करार देने वाले नये क़ानून के बावजूद भी यह स्थिति स्वीकार्य बनाई जा सकती है, मेरे, प्रसन्न और शान्ति के इस त्रिकोणी प्रकरण में।

मगर मेरी यह खुशफ़हमी कितनी क्षणिक होती थी, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता था कि अभी इस त्रिभुज का एक कोण बनने के पक्ष में उठी दलीलों का जायज़ा पूरा नहीं हो पाता था कि मेरा मन अपने आपको ही धिक्कारने लगता था बुरी तरह। यह वही पुराना मन होता था या कोई दूसरा नया मन, नहीं कह सकती मगर मेरा सारा अस्तित्व ही घृणा से बिलबिलाने लगता था नाली की सूँडी की तरह यह सोचकर कि मैं क्या खेल बनके रहूँगी प्रसन्न की गृहस्थी मे ? प्रियतम के सम्पूर्ण एवं एकान्त प्रेम की आकांक्षिणी होकर मात्र हिस्सा बटाऊँगी प्रेम मे और इस हिस्सेदारी में, प्रसन्न को न अपना ही बना सकूँगी और न शान्ति का ही रहने दूँगी। और फिर मेरे अपने बच्चे होंगे तो वे किस हक़ से प्रसन्न को अपना पिता मानेंगे और मेरे लिए भी उनके मन में क्या आदर-सम्मान होगा। सोच सोचकर अपने मुह से अपने मुँह पर ही थूक लेने की तबीअत होने लगती थी।

और यह ऊहापोह केवल मेरे ही लिए हो, ऐसा नहीं था। पुणे-बम्बई से लौटने के बाद से जितनी बार भी भेंट हुई थी प्रसन्न से, उन्हें

भी ऐसे ही संकल्पों-विकल्पों में डूबते-उतराते पाती थी। घंटों बीत जाते थे इस विषम स्थिति की चीर-फाड़ करते हुए और अन्त में नतीजा वही का वही रहता था। एक-दो बार प्रसन्न ने मेरे मन से यह कोशिश भी कर देखी थी कि पत्नी शान्ति में कुछ कमियाँ खोजकर ही, किसी दूसरी स्त्री के प्रति आसक्त होने की अपराध-भावना से मुक्ति पाई जाय और यदि हो सके तो अपनी ओर से ही कोई ऐसा गर्हित या क्रूर कार्य किया जाय कि पत्नी स्वयं पति से घृणा करने लगे या कम से कम उसके प्रति उदासीन तो हो ही जाय। मगर मैं भी जानती थी और प्रसन्न भी कि अपने परिवार के प्रति वह बेरुखी, जो सामान्यतया कलाकारों में पाई जाती है, अपनाना प्रसन्न के बस की बात नहीं थी। हम दोनों यह भली-भाँति जान गये थे कि ऐसा कोई भी उपाय आजमाना उतना ही बेमानी एवं निरर्थक सिद्ध होगा जितना पुणे के सारंग होटल में लिया हुआ वह संकल्प कि लखनऊ लौटकर आपस में एक दूसरे से कोई सम्पर्क नहीं रखेंगे। प्रसन्न को मेरे भीतर हो रहे इस नये परिवर्तन की बात अभी तक मालूम नहीं थी। वरना-वरना वह सीधा सादा संगीतज्ञ⋯⋯!

'किस ख्वाब में खोई हुई हो दीदी?'

किरन की आवाज ने जैसे ठोकर मारकर सोते से जगा दिया हो मुझे। हड़बड़ा कर देखा बाईं ओर तो दरवाजे में एक 'ट्रे' सी लिए किरन खड़ी थी और बड़ी सदय करुणाभरी निगाह से देखे जा रही थी मेरी ओर।

'हाँ—ख्वाब ही तो देख रही थी,—एक दिवा स्वप्न'—मन में सोचा मैंने। ऊपर से चेहरे को सहज-प्रकृतिस्थ बनाने की चेष्टा करते हुए कहा—'नहीं तो बस ऐसे ही—यह मैगजीन देख रही थी तुम्हारी।'

तबतक किरन आगे बढ़ आई। सोफे की छोटी साइड टेबुल पर काफी के प्यालों की ट्रे रखते हुए बोली—'मुझसे भी गोपनीयता बरतोगी इतनी?'

बात कहते हुए किरन का गला थरथरा सा गया था कुछ। निगाह सीधी करके उसकी तरफ देखा मैंने तो लगा जैसे बहुत ही दुःखी हो उठी हो वह।

उसका हाथ पकड़कर बड़े प्यार से उसे सोफ़े पर ही खींच लिया मैंने। अपने पास बिठाते हुए बोल शायद अपने आप ही निकल पड़ा मेरे मुँह से—'बताऊँगी-बताऊँगी-तुम्हें भी नहीं बताऊँगी तो फिर किसे बताऊँगी मन का दर्द ?'

'तब ठीक है—मगर वह बाद में—पहले काफी पी लो—ठंडी हो जायगी।' कहते हुए उठकर एक प्याला उठाकर मेरे हाथ में पकड़ा दिया और एक खुद उठा लिया।

गर्म-गर्म काफी की सौंधी महक जैसे ही मेरे नासापुटों में पहुँची, दिमाग कुछ हलका लगने लगा। ऊपर तक लबालब झागों में से ही एक सिप लिया तो मजबूर होकर कहना पड़ा—'वाह! इतनी बढ़िया काफ़ी बनाती हो तुम—यह पहले कभी पता ही नहीं चला।'

'पहले पता भी कैसे चलता जब बढ़िया काफी बनाना जानती ही नहीं थी।'

'तो क्या इधर सीखा है यह आर्ट ?' मैंने किरन के स्वर पर ध्यान दिए बिना हँसकर पूछा।

'हाँ—दीदी तुम्हारे नाइजीरिया जाने के बाद पिछले तीन सालों में बहुत से आर्ट सीखे हैं मैंने—उन्हीं में से एक यह भी है ?'

'क्या बात है किरन ?' किरन के स्वर में जो टीस सी थी, वह इस बार मुझसे छिपी न रही। पूछ बैठी—'क्या तुमने भी कोई नया दर्द पाल लिया है इधर ?...पति से अलगाव होने के दर्द का तो पता है मुझे...मगर वह घाव तो अब काफी पुराना हो गया—इधर क्या कोई नई बात ?'

'अभी तक कोई नई बात नजर नहीं आई दीदी ?'

'नहीं तो'—अचकचाता हुआ स्वर निकला मेरा।

'अरे तुमने यह मठरी तो खाई ही नहीं—!' किरन बीच में ही चिल्ला सी उठी, जैसे बच्चे को डाट रही हो।

मगर उसका यह बदला हुआ स्वर मुझे धोखा नहीं दे सका। कहा—'मठरी बाद में खाऊंगी—पहले बात बता। किस नई बात की तरफ इशारा है तेरा।'

'हां अब लगा कि तुम मेरी वही पुरानी दीपा दीदी हो'—किरन के इस स्वर में प्रसन्नता की वास्तविक झलक थी। 'नाइजीरिया से लौटकर पता नहीं क्यों तुम मुझे 'तुम-तुम' करके चिढ़ाने सी लगी थीं। मुझे लगने लगा था कि तुम मेरी पुरानी दीपा दीदी नहीं रहीं अब। इसीलिए तो तुमसे अधिक बात नहीं कर पाती थी मैं।'

'ठीक है—आइन्दा यह ग़लती नहीं होगी—अब बता बात।'

'पहले मठरी खाओ—आम के अचार के साथ मम्मी के हाथ की बनी है।'

किरन की ज़िद रखने के लिए मठरी का टुकड़ा तोड़ कर मैंने मुंह में रख लिया और पीछे से आम का अचार कुतर लिया थोड़ा सा।

'बेहद लज़ीज़ है'—शतप्रतिशत सच्ची तारीफ़ करते हुए कहा मैंने। 'मगर मम्मी है कहां?'

'सो रही हैं—सुबह से ही तबीअत ठीक नहीं थी। उनके लिए भी कालेज से जल्दी लौटना था मुझे।'

कह कर किरन उठ खड़ी हुई अचानक ही और मुंह फेरे-फेरे कमरे से बाहर निकल गई काफ़ी का प्याला हाथ में ही लिए।

लगभग चार-पांच मिनट बाद वापस लौटी तो मुझे लगा जैसे मुंह धो पोंछ कर आई हो।

मैंने मठरी की प्लेट एक तरफ़ कर दी और ठंडा गई काफ़ी का प्याला भी रख दिया अधपिया ही। हाथ पकड़ कर किरन को पास

बिठाला और बड़ी बहन के अधिकार पूर्ण स्वर में कहा—'क्या नई बात हुई है इधर—बताओ पहले।'

'मैं क्या बताऊं ?—तुम्हें क्या कुछ नया नजर नहीं आ रहा है मुझ में ?'

'कोई खास बात तो नहीं दीख रही' मैंने कहा। 'सिवाय इसके कि पहले के मुक़ाबले में कुछ दुबला सी गई हो। मगर वह तो......'

'मगर वह तो परित्यक्ता औरत के लिए स्वाभाविक ही है—यही न ?—और मेरी आँखें ? जरा ग़ौर से देखकर बताओ।' किरन का स्वर दुराग्रह-पूर्ण सा हो उठा कुछ।

'हां—आखें भी कुछ सूजी हुई सी लग रही हैं—कुछ कालापन सा भी आ गया है आँखों के पपोटों पर।' मैंने हिचकिचाते स्वर में कहा।

जवाब में, किरन ने अचानक ही मेरा हाथ पकड़ा और मुझे एक प्रकार से, जबरन ही घुमा लाई अपने पूरे फ्लैट में। अपनी बीमार मम्मी के कमरे को भी नहीं छोड़ा उसने मुझे दिखाने से। कितना वैभव छुपा पड़ा था उस साधरण से ३ कमरों के फ्लैट में, देखकर हकबकी सी रह गई। वापस अपनी जगह पर लौटी तो किरन का बड़ा अजीबो-ग़रीब सा स्वर निकला—'और मेरा यह शानदार फ्लैट, नई कार, यह क़ीमती फर्नीचर, परशियन रग्ज, सुपरफाइन क्राकरी—कपड़े, माँ की मेज पर रक्खी क़ीमती शराब की बोतलें—इनमें भी कोई नई चीज नहीं दीखी तुम्हें दीदी या सब कुछ जानते हुए भी अनजान बनने का नाटक कर रही हो मेरे साथ—

'किरन!' गुस्से के मारे चीख सी पड़ी बेसाख्ता। 'मगर-मगर इस सब का मतलब क्या है ?—क्या कहना चाह रही है तू ?'

'मतलब यह है दीदी कि अब तुम्हारी पुरानी छोटी बहन किरन मर चुकी है और अब जो तुम्हारे पास बैठी है—वह है एक 'काल-गर्ल।'

'कालगर्ल ?

किरन के यहाँ से घर लौटने के बाद सचमुच ही तबीयत खराब हो गई मेरी। शरीर से कम, मन से ज्यादा।

किरन ने जो कुछ बताया था वह था ही इतना भयंकर और गर्हित कि सुनने वाला कलेजा पकड़ ले और मुँह फाड़े अवाक् रह जाय।— भला कौन यकीन करेगा कि एक अच्छी खासी पढ़ी-लिखी सुसंस्कृत युवती, जिसका पिता आर्मी में कर्नल पद पर रहा हो, जिसका पति-भले ही उससे अलग हो गया हो—उसी नगर में, जहां के विश्वविद्यालय में रीडर पद पर कार्यरत हो और जो स्वयं एक डिग्री कालेज में लैक्चरार हो, एक प्रकार से वेश्या जैसा जीवन बिताने को मजबूर है।

यही सब सोचती पहुँची थी घर पर, एक रिक्शा करके। किरन भी बाहर निकल आई थी अपने उस एकान्त कक्ष से,—शायद मेरे जाने की आहट पाकर और उसने बहुत ज़िद की थी अपनी उस कार से ही घर तक छोड़ने की मगर उसकी उस कार में, जिसका इतिहास भी उतना ही काला था, जितना उसका रंग,—बैठने की इच्छा ही नहीं हुई थी मेरी। यह भी कहाँ पता था मुझे कि वह हलकी सी बूंदा-बांदी थोड़ी ही देर बाद अच्छी खासी तेज वर्षा में बदल जायेगी और मैं रिवर बैंक कालोनी तक पहुँचते-पहुँचते तरबतर हो आऊंगी एकदम।

मगर हुआ यही था। रिक्शा जब पोर्टिको में जाकर खड़ा हुआ तो अपने ऊपर नजर डालकर खुद ही लाज में डूब गई थी मैं। किसी तरह रिक्शा वाले का भाड़ा चुका कर भीतर पहुँची घर में। सोच रही थी कि सबकी नजर बचाकर, गैलरी वाले बाहरी जीने से ही ऊपर पहुँच आऊंगी और कमरा बन्द करके पड़ रहूँगी चुपचाप।

मगर गैलरी मे घुसते-घुसते ही सामने आ गई चाची। ऊपर से नीचे तक मुझे निहार कर उन्होने आँखें ऐसे सिकोडी जैसे कोई महाअपवित्र और घृणित वस्तु आ गई हो उनकी दृष्टि मे।

अधमिची आंखो को मिचकाते हुए बोली—'ओ-स्स्होह—तो रानी जी लौट आई अपने सैर-सपाटे से?'

'क्यो, मैं तो कालेज गई थी।' भीगी हुई साडी जो जिस्म से चिपक सी गई थी, को शरीर से अलग करने की नाकामयाब कोशिश करते हुए मैंने कहा। हालांकि मेरा स्वर मुझे ही अविश्वसनीय सा लग रहा था।

'हाँ-क्यों नही! तभी तो अभी थोडी देर पहले तुम्हारी प्रिन्सिपल फोन पर पूछ रही थी कि दीपा घर पहुँची या नही अभी। बचारी बडी चिन्तित लग रही थी तुम्हारी तबीअत के बारे मे।' बडा ही तीखा और विष-बुझा सा स्वर था चाची का।

'हाँ तबीयत तो जरूर खराब हो गई थी कालेज मे मेरी।'

'और खराब तबीयत का इलाज कराने ही शायद अपने प्रेमी के यहाँ चली गई थी कालेज से दीपा रानी।'

'प्रेमी ऽ!—कौन प्रेमी? यह क्या कह रही हो तुम चाची?' अत्यन्त क्षुब्ध स्वर में चिल्ला उठी मैं।

'कोई होगा ही—और देखो ज्यादा ऊंची आवाज निकालने की जरूरत नही है। घर में नौकर चाकर भी हैं।' चाची के स्वर की तिक्तता बढ़ती ही जा रही थी।

'और यह प्रसन्न कौन है?'

मैं कुछ कहूँ, इससे पहले ही एक विष बुझा बाण और दाग दिया चाची ने मुझे लक्ष्य करके।

अब इसका उत्तर मैं क्या देती भला। चाची प्रसन्न को जानती न हो, ऐसी बात तो थी नहीं। मेरे नाइजीरिया जाने के कुछ पहले तक प्रसन्न लगभग रोज ही आते थे इस घर में भाई जी के मित्र होने के नाते। गाने

बजाने की बैठकें भी होती थीं। चाची ने भी सुना था गायन उनका कई बार। चाची के 'लड्डू-गोपाल' की पूजा अर्चना में भी कई बार भाग लिया था उन्होंने-कृष्ण भगवान के 'दरबार' में अपनी गायनांजलि प्रस्तुत करके। और अब वही चाची पूछ रही थीं कि—'यह प्रसन्न कौन है।'

मैं चुप रही तो अपने प्रश्न का उत्तर भी दे डाला स्वयं ही—'शायद वही गायनाचार्य होंगे।'''मगर इससे तुम्हारा क्या संबंध है ?'

पहले प्रश्न से अधिक टेढ़ा प्रश्न ! इसका भी क्या जवाब देती मैं। कैसे बताती उन्हें कि प्रसन्न मेरे सब कुछ होते हुए भी कुछ नहीं हैं। केवल इतना ही कह पाई,—'मगर प्रसन्न के बारे में यह पूछताछ क्यों ?'

'इसलिए'—कहते हुए चाची ने एक पोस्टकार्ड साइज का फोटो, अपने ब्लाउज से निकालकर मेरे सामने कर दिया।

फोटो बम्बई के ओबराय—शेराटन होटल के 'लाउन्ज' में हुई उस 'काकटेल-पार्टी' का था जो पुणे के संगीत-सम्मेलन से वापस जा रहे संगीत कलाकारों के सम्मान में, बम्बई की कलाकार परिषद् ने आयोजित की थी। मगर फोटो में फोकस के केन्द्र-बिन्दु हमीं दोनों थे—यानी प्रसन्न और मैं। एक खिड़की के पास, भीड़ से थोड़ा अलग हटकर खड़े हुए—एक-एक गिलास सा हाथ में लिए हुए। फोटो के नीचे किसी ने हाथ से लिख रखा था—प्रसन्न-दीपा 'बम्बई' की काकटेल पार्टी में।'

भीगी साड़ी में एक मुजरिम की तरह से खड़े रहकर चाची के सवालों का जवाब देना वैसे ही बड़ा अटपटा लग रहा था मुझे। फोटो देखकर तो एकदम भौंचक रह जाना पड़ा। पूछ उठी—'यह कहाँ से आया ?'

'अभी थोड़ी देर पहले डाकिया दे गया है।' चाची जैसे मृत्युदण्ड सुनाने की भूमिका बाँध रही हों।

कुछ बोलूँ, इससे पहले ही चाची फिर बोल उठीं—'काकटेल पार्टी तो शराब पार्टी ही होती है न ?'

'मगर……मग……'

'मगर वगर कुछ नहीं दीपा—थू है तुम पर, तुमने तो वेश्याओं को भी तार दिया।' कहकर चाची घृणा से मुँह बिचकाती हुई वापस चली गयी घर में। मैं खड़ी सोचती रह गई कुछ देर तक कि ऊपर अपने कमरे में जाऊँ या इस घर से बाहर चली जाऊँ हमेशा-हमेशा के लिए।

□□

सात

बहरहाल ऊपर अपने कमरे में जाकर भीगे कपड़े तो बदलने ही थे। घर छोड़कर कहीं अन्यत्र जाने के लिए भी कुछ कपड़े-लत्ते और टका-पैसा पास में रहना जरूरी था। यही सोचकर जीना तो चढ़ गई किसी तरह, पैरों को जबरन ऊपर की ओर ठेल-ठेलकर। मगर कमरे में पहुँचकर शक्ति जवाब दे गई, एकदम। कपड़े बदलने की ताब भी नहीं ला पाई अपने आप में। पंखे का स्विच दाबकर उन्हीं भीगे कपड़ों में पड़ गई अपने पलंग पर।

कितनी देर पड़ी रही उस नीम-बेहोशी जैसी अवस्था में, कहना मुश्किल है मेरे लिए। बीच-बीच में ऐसा जरूर लगता रहा जैसे कोई अपनी नर्म हथेली से माथा सहला रहा हो मेरा। अन्त में जब आँख खुली थोड़ी और चेतना इस योग्य हुई कि अहसास कर सकूँ कुछ, तो देखा कि भाभी सचमुच ही पास में बैठी बाम जैसी कोई चीज मल रही हैं मेरे ललाट पर।

'भाभी आप ?' क्षीण सा स्वर निकला मेरा।

'तुम्हारे भाईजी भी आ ही रहे होंगे अब।' बड़ी कोमल आवाज में बोलीं भाभी और मेरा माथा दाबती रहीं धीरे-धीरे।

असमंजस भरे अवसाद में डूबे-डूबे ही मैंने भाभी के मुख की ओर देखा। उनकी बड़ी-बड़ी आँखें मेरे चेहरे पर ही जमी हुई थीं अपलक।

मैंने जैसे उन आँखों से बचने के लिए अपनी दृष्टि इधर-उधर घुमाई थोड़ी।

'क्यों, अब तो पहले से आराम लग रहा है न ?' उसी कोमल स्वर में पूछा भाभी ने।

उत्तर में मैंने सिर हिला दिया धीरे से। पता नहीं कितने अरसे बाद बुआ जी जैसा स्नेह-पगा स्वर सुनने को मिल रहा था भाभी के मुख से। जब से नाइजीरिया से लौटी थी, तब से तो पता नहीं क्यों भाभी ने मुझसे जैसे बोलना ही छोड़ दिया हो। वैसे ज्यादा वे पहले भी नहीं बोलती थीं कभी मगर इधर तो जरूरत से ज्यादा अल्प-भाषिणी हो गई थीं। भाई जी के ठीक विपरीत। बस भोजन-कक्ष में ही उनका गृहिणी स्वरूप देखने को मिलता था।

'क्यों आराम है न अब? बताया नहीं तुमने?' भाभी ने फिर पूछा।

इस बार के स्वर में कोमलता के साथ-साथ, बड़ी क्षीण सी आकुलता का भी आभास हो मानो। सुनकर बड़ा अजीब सा लगा। क्योंकि जहाँ जुबान की मृदुता उनकी आदत में शुमार थी, वहीं किसी के लिए किसी प्रकार की आकुलता का भाव उनके स्वर से प्रकट होना एक ऐसी बात थी जो उनसे नितान्त अनपेक्षित थी। सुनकर आँखें छलछला आई मेरी।

'हाँ-अब तो तबीयत काफी ठीक लग रही है' सिर हिलाते हुए कहा मैंने। उनकी बड़ी-बड़ी, गहरी किन्तु भाव-शून्य सी आँखों को फिर बचा गई अपनी आँखें मूँदकर। पता नहीं क्यों आज उनसे आँख मिलाकर बात करना बड़ा अटपटा सा लग रहा था। वैसे भी उनकी आँखों में आँखें डालकर उनसे बात करना हमेशा एक बड़ा कठिन अनुभव होता था मेरे लिए। आँखों में कोई खराबी नहीं थी उनके। कठोरता जैसी कोई चीज भी नहीं थी। अच्छी खासी आँखें थी। बड़ी, गहरी और आबदार। एक तरह से सुन्दर कही जा सकती थी। मगर आँखों की भाव-शून्यता ऐसी थी जो उनकी ओर ताकने वालों को एक अजीब से आत्मविस्मृति से भर देती थी। विक्षिप्तों जैसी भाव-शून्यता नहीं थी वह। मगर ऐसी जरूर थी, जो देखने वाले को यह अहसास कराये जैसे

कोई उसके मन की परतों को उधेड़ने की कोशिश कर रहा हो—बिना किसी लाग-लपेट के, बिना किसी 'अपना-पराया' वाली भावना के। दो शब्दो में कहूँ तो उनकी दृष्टि में भी सामान्यतः वही निस्संग भाव रहता था जो उनकी मृदु वाणी मे। बस कभी-कभी-बड़े 'रेअर' अवसरों पर एक अबूझ सी चमक आती थी उनकी आँखों में जिसे मैं कभी परिभाषित नहीं कर पाई थी।

मेरे आँखें मूदने में ही, एक दो गरम गरम बूंदें ढलक गई होंगी मेरी कनपटी पर, जिन्हे भाभी ने शायद अपने आँचल से ही पोछा हो और अब बालों मे उगलियां फिरा रही थीं हौले हौले।

अचानक ही मेरा हाथ तकिये के नीचे से निकल कर शरीर पर जा पहुँचा तो मालूम हुआ कि चादर सी ओढ़े हुए हूँ कुछ। चादर के भीतर हाथ डाल कर शरीर को टटोला तो पता चला कि गाउन भी है अन्दर।

'भाभी ने ही बदले हूंगे गीले कपडे मेरे। अकेले ही। और भला कौन आया होगा उनकी मदद को उस समय।—उन्होंने ही गाउन पहनाया होगा न जाने कैसे'—सोचकर बड़ी ममता सी उमड़ आई भाभी के प्रति और साथ ही अपने नग्न शरीर की कल्पना मात्र से ही झुरझुरी सी दौड़ गई शरीर में।

'क्या फिर ठंड सी लग रही है कुछ?' भाभी ने बालो में घूमती हुई उंगलियों को रोक कर पूछा।

'हां'—मेर मुँह से निकल गया बिना सोचे विचारे ही।

भाभी तुरन्त उठी और खिड़की से लगी मेज पर रक्खे 'थर्मस' से एक प्याले मे दूध लेकर और पास ही रक्खी ब्रांडी की बोतल से उसमें जरा सी ब्रांडी मिलाकर प्याला ले आई मेरे पास।

'लो पी लो इसे'

'यह मिलाया क्या है इसमे भाभी? ब्रांडी!' पूछते हुए न जाने क्यों एक तिक्त मुस्कान सी खेल गई मेरे ओंठो पर।

'डाक्टर की पत्नी भी तो डाक्टरनी होती है—छोटी-मोटी। इसी से तो तुम्हारी बीमारी को क़ाबू में कर पाई मैं।'

'मगर ब्राडी तो शराब होती है न ?'

'चाची की बेसिर-पैर की बातों को सोचकर मन खराब मत करो अपना।—लो पी लो इसे।—उठो तो ज़रा' कहते हुए भाभी ने मेरा सिर थोड़ा उठाकर, एक मोटा तकिया और लगा दिया मेरे सिरहाने।

आँसू फिर छलछला आये मेरी आँखों में यह सोचकर कि इसी नारी को मैं अब तक एकदम निर्मम और निर्मोहिन समझती थी। इसके हृदय में बहती हुई स्नेह स्रोतस्विनी को जानने पहचानने की कभी कोशिश ही नहीं की मैंने। गाउन की बाँह से, गालों पर ढलक आये आँसुओं को पोंछते हुए पूछा मैंने—'तो तुमने भी सुन लिया, चाची जो कह रही थी मुझसे ?'

'हाँ—उनकी बकवास भी सुनी और वह फोटो भी देखा। तुम्हारे आने से पहले ही दिखा गई थीं मुझे।'

'तब तो भाभी——'

'बस आगे कुछ मत सोचो—कुछ मत कहो—दूध पी लो यह, वरना—'

भाभी को आगे कुछ नहीं कहने दिया मैंने। थोड़ा और ठंडा गुनगुना-गुनगुना दूध एक साँस में ही पी गई मैं।

प्याला भाभी के हाथ पकड़ाकर, तकियों पर
और आँखों के कोने से ही भाभी की ओर देखते

'तुम नहीं पूछोगी भाभी कि प्रसन्न मेरा
में मैं और......'

'नहीं मुझे कुछ नहीं जानना—सुनना है

'भाई जी बता चुके होंगे पहले ही।'

'नहीं तुम्हारे भाई जी ने भी मुझे

'तुम यह भी नहीं जानना चाहोगी क्या, कि चाची के उस गर्हित आरोप के बाद मैं घर छोड़कर कहीं और चले जाने की बात सोच बैठी थी। ऊपर अपने कपड़े और एक बैग लेने के लिए ही आई थी।'

'कहाँ प्रसन्न के यहाँ ?'

'नहीं—दू—र—कहीं बहुत दू र।'

मेरा झूठा प्याला अभी तक भाभी के हाथ में ही था। उसे वापस मेज पर रखकर खड़े-खड़े बोलीं,—'मगर तुम क्यों जाओगी अपना घर छोड़कर। जाना हो तो चाची ही जायें, जो गाँव की सारी ज़मीन जायदाद अपने उस निकम्मे पति के हाथों लुटवा कर, अब विधवा होने का स्वांग रचती हुई अपने उस 'सुपुत्त' के साथ यहाँ अड्डा जमा कर बैठी हैं पिछले सात-आठ साल से—इस घर को हड़पने की फिराक में।'

अपनी उन कम-सखुन भाभी को इतना ज्यादा बोलते तो शायद ही कभी मैंने सुना हो। आँखें पूरी तरह से खोलकर ग़ौर से देखा उनकी ओर। अपेक्षा कर रही थी कि गुस्से से तमतमाया उनका चेहरा देखूँगी पहली बार।

मगर भाभी के चेहरे पर क्रोध या विक्षोभ की एक शिकन भी नहीं थी। हाँ—उनकी आँखों की भाव-शून्यता में कुछ अन्तर ज़रूर था। लागोस (नायजीरिया) में अफ्रीका के जंगली पशुओं पर फिल्माई गई एक पिक्चर देखी थी। उसी में एक दृश्य था कि सिंहिनी एक ज़ैब्रा—शावक पर छलांग लगाने जा रही है कि तभी कहीं पास में ही शिकारियों द्वारा किया गया धूम-धड़ाका उसके इरादे की पूर्ति में व्यवधान डाल देता है अचानक और ज़ैब्रा भाग खड़ा होता है। शिकार के बचकर निकल भागने से शेरनी की आँखों में जो एक अति भीषण हिंस्र भाव पैदा हुआ था, उसे बड़ी खूबी और सफलता से पकड़ा था छायाकार के कैमरे ने। वैसे ही हिंस्र भाव की एक सूक्ष्म सी झलक भाभी की आँखों में भी उभरी थी क्षण भर को मगर जब तक वे मेरे पलंग के पास कुर्सी पर

आकर बैठें, तब तक उनकी आँखों की भाव-शून्यता फिर वापस आ चुकी थी। उन्हें देखकर कोई कह ही नहीं सकता था कि अभी-अभी उनके मुख से एक बड़ी कड़वी बात निकल चुकी है।

'मगर भाभी, तुम्हारी तो बड़ी तारीफ करती है चाची—हरदम-हर घड़ी।'—मैंने कहा।

'इसलिए कि मैं उनके शराबी कुकर्मी पुत्र को पैसे की कमी न होने दूँ और वह जुए के अड्डों और रंडियों के कोठों की रौनक बढ़ाता रहे।'—भाभी की यह बात पहली बात से भी अधिक कड़वी थी मगर उनकी मुख-मुद्रा यथावत् संयत थी।

'तो अब गंगाधर इस सीमा तक नीचे उतर आया है?' मैंने बड़े हतप्रभ भाव से पूछा।

'वह कितना गिरा हुआ इन्सान है—या कहना चाहिए पशु है—इसका तुम सही अन्दाज नहीं लगा सकती दीपा।' भाभी ने कहा। पीछे से इतना और जोड़ा—'अगर जरूरत पड़े तो वह अपनी बीबी—यहाँ तक कि माँ को भी कोठे पर बिठाल सकता है।'

'यह तुम क्या कह रही हो भाभी?'—मैं चीख सी उठी।

'सच ही कह रही हूँ,—जो कुछ कह रही हूँ। आज पहली बार ही तो तुमसे खुलकर बात करने का मौका मिला है।···आज ही इन्दु को और अपनी माँ को ऐसी-ऐसी गालियाँ देकर कचहरी गया है अपनी उस वकालत में आग लगाने कि अगर चौक की रंडियाँ और भँडुए सुनते तो वे भी शर्मा जाते।'

'अर्-रे!ऽ'

'तभी तो चाची भिन्नाई थीं तुमपर उस बुरी तरह। कोई न कोई तो चाहिए ही उन्हें मन की भँड़ास निकालने को। इन्दु भी तभी से पड़ी है अपने कमरे में ही अपने साथ टीपू को भी बन्द किए हुए।'

आवेश मे मैं उठकर बैठ गई। मगर भाभी का चेहरा वैसा ही निर्विकार बना रहा।

'मगर गंगाधर तो आपका बड़ा लाडला देवर...था...बड़ा प्यार करती थी आप भी उसे—फिर वह ऐसा......'

'क्या ऽऽ ?' कहते हुए भाभी खड़ी हो गईं यकायक।

'फिर से तो कहो जरा'—कहते हुए भाभी की मुट्ठियाँ भिंच गई थीं। आखो की भाव शून्यता का स्थान एक ऐसे आक्रामक भाव ने ले लिया था जैसे मुझ पर ही प्राण घातक आक्रमण करने जा रही हों वह।

मगर अगले ही क्षण वे पीछे मुड़कर बाहर चली गईं कमरे से। भाभी का यह चण्डी रूप भी जीवन में मैंने पहली बार ही देखा था।

□□

आठ

निरीह और निर्विकार कहलाने वाला भगवान अपने हाथों से रचे हुए मानव को ऐसे उलटे-सीधे खेल क्यों खिलाता है और वह भी कामना और कर्म के नाम पर, यह प्रश्न, सही मानी में होश सँभालने के बाद से ही मेरी चेतना को झकझोरता आया है। शय्याग्रस्त होने के बाद से यही प्रश्न मेरे चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु बना हुआ था।—कर्म करो—कामना नहीं—इस विचित्र अनुशासनात्मक स्थिति से सबसे पहले मेरा साबका हाईस्कूल कक्षाओं में ही पड़ा था।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते-मा फलेषु कदाचन,'—गीता के इस श्लोक को संस्कृत की टीचर जी ने जितने सहज भाव से पढ़ाया था, उतने ही सहज भाव से मैंने ग्रहण किया था। उस समय कोई दुरूहता नहीं थी, इसमें मेरे लिए।

छमाही परीक्षा में इसी श्लोक का भावार्थ लिखने को आया था संस्कृत के प्रश्नपत्र में। बड़े मजे-मजे में लिख आई थी गीता का वह परम तत्व रटे-रटाये वाक्यों में 'तुम्हारा काम केवल कर्म करना है—फल की कामना करना नहीं। तुम न तो कर्म का कारण बनो और न निष्कर्म बनो।' पाँच में पाँच अंक मिले थे इस प्रश्न में और टीचर जी ने शाबाशी दी थी, वह अलग।

इन्टर में फिर यही श्लोक था कोर्स में। बड़ी दीदी यानी प्रधानाचार्या स्वयं पढ़ाती थीं संस्कृत। श्लोक के भाव को आत्मसात् करने में द्विविधा उन्हीं के अध्यापन-काल में पैदा हुई थी पहली बार। वह भी न हुई होती अगर मेरी मुँहफट सहपाठिनी रूपाली ने न पूछा होता कक्षा में—'टीचर जी, एक ओर तो आप कहती हैं कि मन लगा कर काम किया करो;... क्या पास होने की इच्छा नहीं है?—और दूसरी ओर भगवान् कृष्ण

निष्काम अर्थात् बिना इच्छा किये कर्म करने को कहते हैं—इन दोनों में सही बात कौन सी है ?'——टीचर जी ने बुरा नहीं माना था अपनी छात्रा की इस कुशंका का । उलटे बड़े सौम्य भाव से समाधान किया था उसकी जिज्ञासा का यह कहकर कि मनाई केवल लिप्त होने के लिए है इसलिए निर्लिप्त भाव से काम करना चाहिए ।—सहपाठिनी रुपाली को भले ही सन्तोष हो गया हो मगर मेरे गले नहीं उतरा था उनका यह स्पष्टीकरण । 'निर्लेप नारायण' होकर इस दुनिया का काम काज कैसे चलाया जा सकता है, इस बारे मे, नित्य ही नई नई आशंका—कुशंका पैदा होने लगी मेरे मन मे । एक तरफ *'निष्ठापूर्वक'* और *'पूरी लगन के साथ'* काम करने को कहते थे गुरुजन, हर काम में 'हार्ट एन्ड सोल पुट इन' करने को कहते थे और दूसरी तरफ निर्लिप्त रहने का उपदेश । एकदम परस्पर-विरोधी बातें लगती थी मुझे । सन्तान से मोह किये बिना ही माता-पिता उनका समुचित पालन-पोषण कर लें, व्यापार में पूरी रुचि लिए बिना ही कोई उसमें उन्नति कर ले, प्रथम स्थान पाने की ललक हुए बिना ही कोई अपना गुणोत्कर्ष कर ले ! सारी बात नितान्त अस्वाभाविक और असंभवनीय सी लगती थी मुझे ।

बात थोड़ी बहुत तब समझ में आई जब बी० ए० में संस्कृत पढ़ाने वाले नौजवान अविवाहित गुरु जी *'योगः कर्मसु कौशलम्'* पढ़ाते पढ़ाते ही मुझे अपने प्रेम-चक्र में फाँस बैठे । यही पहला *'प्रेम-प्रकरण'* था मेरा । प्रेम और मुहब्बत का अर्थ भी न समझने वाली मुझे, उन्होंने एक दिन 'निष्काम कर्म' का प्रयोगात्मक पाठ भी पढ़ा दिया सायंकालीन प्राइवेटोरियल कोचिंग कक्षा में, मेरे उस दिन अकेले होने का अनुचित लाभ उठाकर । बिना किसी इरादे के, बिना किसी पूर्व-कामना के उसके उस कुकृत्य में शामिल हुई और बिना लेशमात्र भी आनन्द प्राप्त किये, अपना कौमार्य लुटाकर, 'निष्काम-कर्म' का पहला अधूरा पाठ सीखकर लुटी-लुटी-सी चली आई घर ।———अधूरा इसलिए कि अपने इस कर्म के साथ

मेरे मन में गहरी लज्जा, ग्लानि और पश्चाताप-भावना भी जुड़ी थी कहीं, जिससे हफ्तों, महीनों, बरसों पीछा नहीं छुड़ा पाई थी मैं। निस्संगता का पाठ मेरे लिए ज़रूर अधूरा और एकांगी ही रहा था, मगर मुझे इस पाठ में दीक्षित करने वाला निश्चय ही निस्संग-अकाम योगी या स्थित-प्रज्ञ रहा होगा क्योंकि उस घटना के दो-तीन सप्ताह बाद जब मैं विश्व-विद्यालय जाने की स्थिति मे हुई थी तो उसकी आँखों में या मुख पर ऐसे किसी भाव का आभास मात्र भी नहीं था जो उसे उस घटना से किसी रूप में भी जोड़ता। न सुखमूलक कोई अभिव्यक्ति और न ग्लानि-जनित कोई अनुताप भावना। और जैसा कि बाद मे सुना था, मैं अकेली ही या पहली लड़की नहीं थी जिसे उसने 'निष्काम कर्म' की उस दुर्बोध रहस्यमयता से परिचित कराया हो"'। अन्य भी थी ऐसी ही व्यामोह ग्रस्त किशोरियां जिन्हे पूर्ण निस्संग भाव से ग्रहण करके उतने ही निर्लिप्त भाव से अपने जीवन से बाहर निकाल फेंका था उस दीक्षा-गुरू ने। अगर वह अपने सहकर्मियों में अपने आपको 'योगी' कहता था तो ठीक ही कहता था क्योंकि 'कर्म' में ऐसी कुशलता और दक्षता ही तो योग है गीता के अनुसार। जल में डुबकी मारकर भी जल से अछूते रहने की कला वह जानता था।

विगत अतीत में पढ़ा मेरा वह अधूरा पाठ, भाभी के उस दिन के अपूर्व-अद्भुत व्यवहार को देखने के बाद पूर्ण हो गया लगा मुझे। क्योंकि जिस निस्संगता के साथ, मेरी अस्वस्थता में, बरसों के अन्तराल के बाद मेरे ऊपर मातृवत् स्नेह की वर्षा की थी उन्होंने, उसी निस्संगता के साथ, थोड़ी देर बाद ही, वे मुझे ऐसे छोड़कर चली गई थी जैसे मेरा उनसे कोई सम्बन्ध ही न हो। मैंने तो सोचा था कि चलो अब फिर हो गई दो चार सालों के लिए छुट्टी भाभी-ननद के सम्बन्ध की।

मगर बलिहारी भाभी की और निस्संग-कर्म में उनकी उस अडिग आस्था को कि आधे घंटे बाद ही भाई जी के साथ फिर आ गई थीं मेरा

हाल-चाल पूछने और मुझे दवा-दारू पिलाने। उसी दिन नहीं, उसके बाद भी पाँच-छः दिन तक लगातार-जब तक मैं शय्यारूढ रही-वे रोज ही दिन भर मे तीन-चार बार आती, सचिन्त स्वर में मेरी बीमारी का हालचाल मालूम करतीं, मेरे कपड़े बदलवाती, मेरा कमरा और बिस्तर साफ करती अपने हाथों से और वह सभी कुछ करती जिसकी अपेक्षा एक रोगी अपने एक निकट सम्बन्धी से करता है। इसके विपरीत चाची एक दिन को भी नहीं झाँकी थी मेरे कमरे में इस अवधि में। गंगाधर की पत्नी इन्दु आती जरूर थी एक दो बार दिन में मगर मानों कर्तव्य की पूर्ति भर करने को।———उससे या गंगाधर से जो अपनी माँ की तरह, एक बार भी नहीं आया था ऊपर मुझे देखने, शिकायत-शिकवे की कोई बात नहीं थी मेरे लिए क्योंकि मेरे प्रति इन लोगों की जो भावनाएँ थीं वे मुझे भी ज्ञात थीं और घर-बाहर के सब लोग भी जानते थे। मगर जया भाभी जैसे एक पहेली हों, निष्काम-कर्म-भावना की ही तरह। 'अपना-पराया' की भावना से ऊपर उठे हुए व्यक्ति की तरह किसी एक क्षण मे उनका व्यवहार ऐसा होता था जैसे मैं उनकी पेट-जायी बेटी होऊँ और दूसरे ही क्षण वे अस्पताल की एक नर्स की तरह वीतराग और मोह हीन हो जाती थीं।

उनकी इस निस्संगता को शायद मैं एक नाटक ही मानती यदि मैंने अपनी शय्यारूढता की उस अन्तिम रात एक दूसरा नाटक अपनी आँखों न देखा होता।

उस रात किसी तरह नींद ही नहीं आ रही थी मुझे। भाई जी अन्य दवाइयों के साथ कम्पोज की दो टेबलेट्स भी रख गये थे मेरे सिरहाने। मगर कम्पोज की वह गोलियाँ भी बेकार ही सिद्ध हुईं जब, तो मैं बाहर छत पर जा खड़ी हुई थी, मुँडेर का सहारा लेकर। वहाँ से, बरान्दे सहित वे तीनों कमरे, भी नजर आते थे जो नीचे से आने वाले जीने के दाहिनी ओर की छत पर बने थे और जिनका निर्माण भाई जी ने चाची

और गंगाधर के इस घर में आने के बाद कराया था—स्वयं अपने और भाभी के रहने के लिए। इसके अलावा नीचे का आंगन और उसकी चार-दीवारी के उस पार लगा वह आम्र-कुंज भी, जो भाई जी ने बड़े चाव से लगवाया था कई साल पहले, अंशतः दृष्टिगोचर होता था। मेरे कमरे की छत और भाई जी के उस आवास-भाग की छत, दोनों ही आपस में एक समकोण बनाती थीं और दोनों को जोड़ने वाला था बीच का जीना। श्रावणी शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी होते हुए भी अन्धेरा हावी था रात्रि के उस दूसरे प्रहर पर धीरे-धीरे गहरा रहे बादलों के कारण। भाई जी के कमरे की नीली बत्ती उस समय भी जल रही थी जबकि भाभी जी का कमरा अन्धकार में डूबा था पूरी तरह। पिछले कई बरसों से भाई जी और भाभी अलग अलग कमरों में ही सोते थे। शायद इसलिए कि भाई जी बिना देर तक पढ़े और उसके बाद भी बिना नीली बत्ती के नहीं सो सकते थे और भाभी सोने के लिए पूर्ण अन्धकार चाहती थी।

अर्द्ध-रात्रि के उन सुनसान क्षणों में मेरे मन में न जाने कैसा एक विक्षोभ उमड़ घुमड़ रहा था इस बात पर कि जबकि दुनियाँ निद्रामग्न है, और इस घर के सभी लोग यहाँ तक कि नौकर चाकर भी सुख की नींद सो रहे हैं, एक मैं ही ऐसी हूँ कि नींद से वंचित इस तरह छत पर मुंडेर से लगकर खड़ी हुई हूँ, अपने अनेकों अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर उस रात्रि-व्यापी निस्तब्धता में और अपने अशान्त मन के भीतर खोजती।

प्रश्न सिर्फ अपने को ही लेकर नहीं थे। भाई जी, भाभी, चाची, प्रसन्न-सभी तो आ रहे थे प्रश्नों के दायरे में एक एक करके। सबसे अधिक ध्यान आ रहा था किरन का जो मेरी बीमारी के छः सात दिनों में न जाने कितनी बार आई होगी मुझे देखने और मेरा हाल पूछने। उसी पिछली शाम को ही पाकिस्तानी गजल-गायक मेहदी हसन का एक नया एल० पी० भेंट कर गई थी मुझे। इस बार घंटे भर से भी ऊपर बैठी रही थी वह मेरे पास और सुनाती रही थी कि कालेज में दोफाली

जायसवाल के उस 'पर-निन्दा क्लब' में अब वैसे खुले आम मेरा और प्रसन्न का नाम ले लेकर चर्चाएँ होने लगी हैं विचित्र विचित्र। कभी कहा जाता है कि प्रसन्न और मैं गुप्त रूप से विवाह बन्धन में बंध चुके हैं पहले ही और अब केवल पूर्व पत्नी से पूर्ण संबंध-विच्छेद की ही प्रतीक्षा है और कभी यह दावा किया जाता है कि कोख मे पल रहे उस नाजायज भ्रूण से ही मुक्ति पाने के लिए, छुट्टी लेकर मैं घर में छुपी बैठी हूँ।

उन नये-ताजे समाचारों को सुनकर दु.खी मुझे होना चाहिए था मगर रो पड़ी थी समाचार सुनाने वाली ही। आंखों में आंसू भरे-भरे ही झूंझल भरे स्वर में कह उठी थी वह—'कल कालेज चलना तो एक ही वाक्य मे चित्त कर देना उन चुड़ैलों को कहकर कि यह सब झूठ है एकदम।'

'कल तो राखी है न ? कालेज बन्द रहेगा शायद।'—मैंने कहा था धीरे से।

'अरे हाँ—मैं भूल ही गई थी। कल तो भाई सन्तराम के राखी बांधने मुझे भी जाना होगा।'

'कौन सन्तराम ?'

'वही सकटा प्रसाद का जमाई, तुम्हारी मधु का पिता।'

'मगर-वह-वह-उसके लिए तो बता रही थी तू कि उसी ने तुझे इस गन्दगी में खींचा है—उसी ने तुझे मजबूर किया कि तू......'

'तो उससे क्या हुआ ?' किरन ने मेरी बात बीच में ही काटकर कहा था बड़े कसैले स्वर में। 'मेरी मां की सभी फरमाइशें और उसके वे सारे शौक जिनकी वह आदी है 'आर्मी' के दिनों से ही, पूरे करता है दिल खोल कर—कार से लेकर शराब तक और बदले में उसकी जवान लड़की के शरीर का उपभोग करता है मन भर के।——'फेअर इनफ।'

कोई नई बात उद्घाटित नहीं की थी किरन ने यह बताकर। पिछले पांच-छः दिन की मुलाकातों मे ही सब कुछ बता चुकी थी वह। तभी

उसने यह भी बताया था कि इस मामले मे अपराधी कालेज का मैनेजर संकटा प्रसाद अग्रवाला नही बल्कि उसका पंजाबी दामाद सन्तराम गुप्ता है जिसने न केवल श्वसुर महोदय की लोहे की बिजिनेस का सारा दायित्व खुद संभाल रक्खा है बल्कि कालेज का असली—'डी फैक्टो' मैनेजर भी स्वयं बन बैठा है।

इसीलिए किरन की बात सुनकर कोई और नया सोच पैदा नही हुआ मन में मेरे। सिर्फ किरन के घर का वह कक्ष घूम गया था आंखो के सामने जिसे किरन की माँ का अपना खास निजी कक्ष कहा जाता था। उस दिन किरन स्वयं ही तो ले गई थी मुझे अपने नये घर मे फैला वैभव दिखाने और उसी के साथ उस कक्ष को और उसकी 'स्वामिनी' को दिखाने जिसके कारण उसे कालेज की लैक्चरार के अलावा कालेज के असली मैनेजर की उपपत्नी की भी भूमिका निभानी पड़ रही थी।

कक्ष देखने के बाद ही लगा था कि अनायास ही धन-वैभव पा जाने वाले व्यक्ति की रुचि, कुरूपता की किस सीमा तक जा सकती है।...... कमरे मे चारो ओर बहुमूल्य फर्नीचर, इम्पोर्टेड 'गैजेट्स', पुरातन मूर्तियो, आधुनिकतम खिलौनो, कलेन्डरों, फोटुओ का जाल सा फैला था और कमरे के मध्य मे था एक रानियो जैसा डबल बैड और उस पर फैली पड़ी थी किरन की माता। एक ढीला सा बहुमूल्य गाउन तन को ढके था किसी तरह और काले रंगे हुए बाल ऐसे बिखरे थे तकिये और मुंह पर जैसे अभी हाल मे ही पकड़-पकड़ कर खीचा हो किसी ने उनको। मगर वे सो नहीं रही थीं—जैसा कि किरन ने पूछने पर बताया था,—बल्कि शराब के नशे में धुत्त पड़ी थी एकदम, दीन-दुनिया से बेखबर। साइड-टेबुल पर रक्खी स्काच व्हिस्की की दो बोतलें और पलंग पर उनकी बगल में टेढ़ा पड़ा हुआ गिलास, मूक गवाह थे इस बात के।........ जुगुप्सा तो हुई थी किन्तु साथ ही हृदय करुणा से भर आया था उन्हे देखकर। सचमुच ही बीमार लगी थी वे मुझे। माँ की इस कमजोरी के

बारे में किरन ने संकेत किया ज़रूर था एक-आध बार पहले भी नाईजीरिया जाने से पहले। मगर वह तीन सालों के अरसे में ही इतना गंभीर मोड़ ले सकती है, यह बात मेरे सोच से परे थी।

'तो दूसरे रिश्ते के साथ-साथ बहिन भी बनाये रहता है वह तुम्हें'— मैंने विद्रूप भरे स्वर मे पूछा था किरन से।

'हाँ-हाँ—इसमें कौन मुश्किल है,—रात में पत्नी—बल्कि—पत्नी नहीं उपपत्नी—और दिन में बहिन।' कहकर किरन धीमी सी व्यंग्यात्मक हँसी-हँस दी थी। पीछे से इतना और जोड दिया था उसने कि 'कल दीपाली भी राखी बांधने आयेगी, और भी एक आयेगी मगर सब अलग-अलग, अपने-अपने 'फिक्स्ड टाइम' पर। हम तीनों का 'स्टेटस' एक है सन्त जी की निगाह मे मगर समय वे सबको अलग-अलग देते हैं। शायद मेरे सिवाय वे दोनों आपस में एक दूसरे को जानती भी नहीं। दीपाली भी मेरी इस भूमिका के बारे में अनभिज्ञ है क़तई।''''''एक दिन सन्त जी ही बलबला बैठे थे यह सब राज़ मुझपर चरस के नशे में।'

तब तो पहुँचा हुआ सन्त है वह—कहने जा रही थी मैं कि तबतक फिर बोल उठी थी किरन—इस बार एक बिलकुल नये अन्दाज में, जैसे मुझे अपने संरक्षण में ले रही हो,—'और दीपाली की तुम बिलकुल चिन्ता मत करना। उसके और भी राज़ मालूम हो गये हैं मुझे इधर। कस कर फटकार देना इस बार, कोई अट-शंट बात करे तुमसे तो और कह देना कि वह सब झूठ है।'

'मगर सब झूठ हो, ऐसा तो नहीं है। तुम भी जानती हो इतना तो',—मैंने कहा था किरन का हाथ थामकर।

'हाँ जानती हूँ कि तुम जोशी जी से प्रेम करती हो और जोशी जी तुमसे प्रेम करते हैं—मगर तुमने उनसे शादी कर ली है या उनसे गर्भ है तुम्हें—यह सब तो झूठ ही है न ?—फुंफकारते स्वर मे बोल उठी थी किरन।

'अगर गर्भ की बात भी सच हो तो क्या तुम भी मुझसे घृणा करने लगोगी किरन ?'

'हाय दीदी—क्या सचमुच ?',—कहकर विस्फारित नेत्रों से ताकती ही रह गई थी किरन मुझे कई लम्बे क्षणों तक। फिर गालों पर बहते मेरे आँसुओं को अपनी चुन्नी से पोंछते हुए कहा था किरन ने धीमे किन्तु उसी मर्यादा वाले स्वर में—'वास्तव में बड़ी अभागिन हो दीदी तुम भी। मगर घृणा की बात क्यों ? दीफाली बिचारी क्या खाकर तुमसे घृणा करेगी ? हाँ, ईर्ष्या और द्वेष कर सकती है तुमसे—और करती ही है—तुम्हारे शील, तुम्हारे रूप और तुम्हारी वादन-कला और ख्याति के कारण।...मगर मेरे बारे में ऐसी बात कैसे सोची तुमने ?' कहते-कहते रुँआसी हो उठी थी किरन।

तनिक सहज होने के बाद फिर बोल उठी थी किरन—'तुम्हारे लिए मेरे मन मे कितना सम्मान और प्रेम है, यह तुम नहीं जानती दीदी··· मैं खुद भी नहीं जानती पूरी तरह से शायद···। मगर क्यों है—इसका कारण जानती हो ?'

सिर हिलाकर अपनी अज्ञानता स्वीकर की थी मैंने।

'इसलिए कि तुम बड़ी उदार-हृदया और निष्कपट हो एकदम और इसलिए भी कि तुम उस महान् संगीतज्ञ से प्यार करती हो।'

किरन चली गई थी इसके बाद और जाते-जाते मुझसे वचन ले गई थी पेट मे पल रहे गर्भ को लेकर कि बिना पहले बताए कोई अगला क़दम नहीं उठाऊँगी मैं।

अपने प्रति किरन के उस अहेतुक मोह की बात सोचते-सोचते ही कट गई थी पूरी साँझ। *गीता के निष्काम कर्म योग* की बात तो तब आई थी ध्यान में जब नीचे आँगन में चाची के लड्डू गोपाल जी के मन्दिरनुमा कक्ष से आरती की घंटी के साथ-साथ चाची के पुरोहित एवं संरक्षक पं० कन्हैयालाल की मोटी बेसुरी आवाज में गीता के श्लोक भी

पहचान हीन होकर एक ध्वनि मात्र रह गये थे। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरण व्रज' मात्र ही समझ मे आया था।'''और भाभी की निस्सगता की बात बाद मे उस समय हावी हुई थी दिमाग़ पर जब भाभी का लाया दूध पीकर और दवा खाकर मैं सोने की तैयारी कर रही थी। मगर मेरी नींद शायद भाभी के साथ ही चली गई थी, बगल की दूसरी छत पर, मुझे निस्सगता के माया-जाल मे फंसाकर। तभी से चक्र घूम रहा था—कभी भाई जी, कभी भाभी—फिर भाई जी, चाची; गंगाधर, शैफाली, मिस घोष, सन्तराम और किरन सभी घूम रहे थे इस 'जायन्ट-व्हील' में, अपने अलग-अलग हिंडोलों में। चक्र किरन से ही शुरू हुआ था और किरन पर ही समाप्त होता लग रहा था—क्योंकि उस मुंडेर के सहारे खड़े-खडे किरन के बारे में सोचते ही मुझे नींद सी महसूस होने लगी थी। शायद 'काम्पोज' की गोलियाँ असर करने लगी थीं।

घूम कर कमरे में जाने का उपक्रम कर रही थी कि नीचे कहीं खटका सा हुआ। वह हलकी सी आवाज शायद किसी किवाड़-खिड़की के खुलने-भिड़ने की रही हो या किसी चीज के गिरने की, मगर उसी को सुनकर बुरी तरह से चौंक सी पड़ी मैं और लत्थ सी जहाँ की तहाँ, मुंडेर के पीछे ही बैठ गई।

□□

नौ

मुड़ेर के पीछे बैठे-बैठे ही लगा मुझे जैसे मेरी उस छत के ठीक नीचे वाले बरामदे में कोई हँसा हो फिक्क करके। स्वर नारी का था, इसमें सन्देह की गुन्जाइश नहीं थी। मेरे कान काफी तेज थे इस मामले में।

किन्तु नारी कौन हो सकती है नीचे इस समय और वह भी गंगाधर के कमरे और ड्राइंगरूम से सटे आँगन की तरफ खुलने वाले बरामदे में?... इन्दु के बारे में तो दोपहर में ही जया भाभी ने बताया था कि वह उन्नाव अपने घर गई है, रक्षाबन्धन के त्योहार के लिए। भाभी के कथनानुसार वह तो जाने को ज्यादा इच्छुक भी नहीं थी फिर भी गंगाधर ही उसे और टीपू को गाड़ी में बिठाल आया था उसी दिन सुबह।... फिर और कौन हो सकता है? क्या चाची? मगर वे क्या करेंगी गंगाधर और इन्दु के कमरों की तरफ आकर। वे तो गंगाधर के डर के मारे, ड्राइंग-रूम में या उससे सटे भाई जी के घरेलू दवाखाने में भी नहीं झांकती थी यथासंभव। उनका ज्यादातर वक्त तो रसोई घर से लगे बरामदे में, भोजन-कक्ष में या पीछे बने लड्डू-गोपाल जी के कक्ष में ही बीतता था। रात को सोती जरूर थीं मन्दिर के पीछे बने अपने कमरे में ही, मौसम कोई भी क्यों न हो। चोरों से भी उतनी ही भयभीत रहती थीं वे, जितनी गंगाधर से। पता नहीं गाँव में खेतों की कमाई से बचाकर कितनी माया रख छोड़ी थी उन्होंने अपने उस कमरे में कि किसी का भी अपने उस कमरे में जाना उन्हें नहीं सुहाता था। चोरों से सुरक्षा की दृष्टि से ही गाँव से साथ आये कुल-पुरोहित पं० कन्हैया लाल को पीछे 'किचेन गार्डन' की ओर बने टिन-शेड में ही सुलाती थीं हमेशा।

फिर भला कौन होगा नीचे बराम्दे में या संलग्न कमरों में ? क्या वास्तव में कोई चोर ही घुस आया घर मे कहीं से इस बादल-घिरी बरसाती रात का लाभ उठाकर ?...मगर औरत-चोर ?—सोचकर ही झुरझुरी सी दौड़ गई सारे तन मे ।

डकैती के मामले मे तो पुरुष के कन्धे से कन्धा मिलाकर, रायफिलसे धुंआधार गोलिया बरसाने वाली और खून-खच्चर मे मरदों से भी अधिक आनन्द लेने वाली स्वनामधन्या महिला-डकैतो की अनेक गौरव-गाथायें सुनने-पढ़ने को और फिल्मों में देखने को भी मिली थी, मगर रात के अंधेरे में घरो में घुसकर चोरी करने की कला मे भी पुरुष के बराबर ही प्रगति कर चुकी है, भारतीय नारी, ऐसा सुनने में नही आया था अभी तक ।""""और फिर रात में दीवारें लांघ कर पराये घर में घुसने के दुस्साहस के अलावा 'फिक्क' करके हंसने की ढीठता भी करे अगर वह औरत तब तो पुरुषों से चार हाथ आगे पहुँचा हुआ ही मानना होगा उसे ।""""शायद ऐसी ही किसी वीरांगना का दर्शन बदा हो भाग्य में आज—सोचकर खड़ी हुई ही थी मुंडेर से लगकर कि तभी मेरी दृष्टि बाईं ओर की छत के बराम्दे से नीचे आंगन में झांक रही एक मूर्ति पर अटक गई ।

चोर का एक साथी या साथिन ऊपर, मेरे बराबर वाली छत पर, भाई जी और भाभी के कमरो के सामने के बराम्दे में भी मौजूद है—सोचकर पसीना-पसीना होने ही जा रही थी—और आश्चर्य नहीं कि चिल्ला भी उठती उस घडी जोरो से गला फाड़कर—कि तभी वह मूर्ति आगे बढ़ आई, जीने की ओर । उसी क्षण बिजली की एक तीव्र चमक ने मुझे आश्वस्त कर दिया उस ओर से । निश्चय ही वे भाभी ही थीं। आवाज देने की कोशिश की 'भाभी'—मगर भयाक्रान्त गले से एक अस्फुट थरथराहट के अलावा कोई दूसरा स्वर ही नहीं निकला ।—तब तक भाभी नीचे जाने के लिए जीने में मुड़ गई थी शायद ।

भाभी ने भी शायद नीचे बराम्दे में हुई आवाज सुनी होगी अपने कमरे से और अब नीचे देखने जा रही हों कि कौन है, क्या बात है— सोचा मैंने।

—मगर यदि चोर या उस चोरनी ने हमला कर दिया उन पर, तब वे अकेली कैसे मुकाबला करेंगी उसका ?—सोचकर मन में हुआ कि और कुछ नहीं तो भाई जी को ही जगा दूँ चलके।

मगर तभी, उसी पल,—बादल जैसे फट पड़ा हो, एक दिगन्त व्यापी गरज के साथ। तेज वर्षा से बचने के लिए ज़ीने में ही शरण लेनी पड़ी भागकर मुझे। जहाँ खड़ी थी, वहाँ से दोनों ही रास्ते खुले थे मेरे लिए। उस पार वह दूसरा दरवाजा था जो भाई जी की छत के बराम्दे में निकलता था। और ज़ीना उतरते ही नीचे के उस बराम्दे में पहुँच सकती थी, जहाँ से आवाज आई लगी थी और जिधर अभी कुछ क्षण पहले भाभी गई थीं। मेरे कान नीचे की तरफ लगे थे और मन पशो-पेश में था कि किधर जाऊं ? कहीं भाभी किसी मुसीबत में न फँस गई हों नीचे जाकर और मैं जब तक भाई जी को जाकर जगाऊं और वे नीचे पहुँचे तब तक कहीं………

तब तक एक गुर्राहट भरी आवाज नीचे से आई वर्षा की आवाज में घुटी मिली सी। दबी-दबी किन्तु वजनदार गुर्राहट, जैसे अपरिचित व्यक्ति को देखकर, घर के दरवाजे पर बैठा हुआ पालतू अलसेशियन गुर्राता है।

उसके बाद तो मेरे पैर जैसे जबर्दस्ती मुझे ठेल कर नीचे की तरफ ले गये अंधेरे में ही। नीचे की दो सीढ़ियाँ और बाक़ी थीं उतरने को, तभी फिर सुनाई पड़ा वही धीमा-गुर्राता स्वर।

'क्यों आई यहाँ ?'

गुर्राहट के पीछे आवाज गंगाधर की थी।—'मगर गंगाधर ? आज यह इस समय घर में कैसे ?'—मेरा मन सवाल पूछ उठा अपने आपसे।—

'यह तो रात को दो–ढाई बजे से पहले शायद ही कभी लौटता हो घर। अक्सर पूरी रात ही गुजर जाती है किसी जुए के अड्डे पर या किसी कोठे पर।'

ज़ीने मे, जहाँ मैं खड़ी थी, वहाँ से मुझे नीचे के बराम्दे का एक छोटा सा भाग, या कहना चाहिए आंगन से सटे भाग की एक पतली सी पट्टी ही दीख रही थी—धुंधली-धुंधली सी। शायद 'जीरो पावर' का बल्व ही जल रहा था बराम्दे में। गंगाधर अगर बराम्दे में ही था, तो भी उसने बराम्दे का दूसरा बल्व या राड जलाना ज़रूरी नहीं समझा था शायद। बराम्दे में गंगाधर कहाँ है और भाभी ज़ीना उतर कर बराम्दे में कहाँ खड़ी हैं, यह सब मेरे दृष्टिपथ में नहीं आ रहा था।

'हिम्मत कैसे हुई तेरी यहाँ आने की ?' वही आवाज़ फिर उभरी वर्षा की तड़-पड़ के बीच। लगा जैसे बोलने वाला बड़े तैश में हो। एक-एक शब्द चिबला-चिबला कर निकाल रहा था मुख से।

'—मगर यह भाभी से बोल कैसे रहा है ? कहीं शराब के नशे मे होश तो नहीं गंवा बैठा है ?'—मन में आया मेरे और मैं एक सीढ़ी नीचे और खिसक ली।

यहाँ से गंगाधर तो नज़र आया मगर भाभी फिर भी नहीं दीखीं। गंगाधर बराम्दे के दूसरे सिरे पर पापा के समय से ही पड़ी हुई चौड़े हत्थों वाली आराम कुर्सी पर ऐसी तनी मुद्रा मे बैठा हुआ था जैसे अन-पेक्षित रूप से आराम मे खलल पड़ने से निद्रालु सिंह जागकर चौकन्ना हो गया हो अचानक और अपनी जगह बैठे-बैठे ही, थूथड़ी को थोड़ा आगे करके, आँखें फाड़-फाड़ कर टोह ले रहा हो कि कौन है यह अन-पेक्षित व्याघात डालने वाला। दाहिने हाथ के पास ही कुरसी के हत्ते पर एक अधभरा गिलास टिका हुआ था और सिगरेट जैसी कोई चीज़ उसके ओठों से लटकी हुई थी। उल्लू जैसी आँखें बाहर निकलने-निकलने को हो रही थीं।

'कौन है यह ?' बरामदे के अदृश्य भाग से कोई जनाना स्वर उभरा इस बार। वह भी शायद सुरापान में गंगाधर का बराबर साथ दे रही थी क्योंकि आवाज उसकी भी लड़खड़ाई हुई सी लगी उस क्षण मुझे।

'—तो यही होगी वह चोरनी'—मन मे सोचा मैंने।—'लगता है आज मैदान साफ करके किसी कोठे वाली को घर में ही ले आया है—कम्बख्त।'

'तुम तो कह रहे थे कि तुम्हारी वाइफ बाहर गई·······'

'वाइफ नहीं है यह', गंगाधर के बलबलाते स्वर ने उस जनानी आवाज को बीच में ही चुप कर दिया।

'यह तो माता जी हैं हमारी—दूध पिलाने आई होंगी अपने छौने को।·······छातियों में दूध उतर रहा होगा बिचारी ,के अपने मुन्ना के लिए।·······क्यों है न ?'

—अरे—राम-राम—तो क्या चाची भी पहुँच चुकी हैं यहाँ 'सुपूत' की यह घिनौनी करतूतें देखने और उसके *मदिरा-वासित मुख से यह* 'श्रद्धा-उद्‌गार' सुनने और वह भी एक वेश्या की उपस्थिति में।—सोचकर दिमाग भन्ना उठा मेरा एकदम। किंकर्तव्यविमूढ़ सी सोचती रह गई कुछ क्षणों तक कि बरामदे में सामने जाकर इस कमीने को अपनी उस बाजारू औरत के साथ घर से निकल जाने को कहूँ और चाची को इस फजीहत से बचाऊं या ऊपर जाकर भाई जी को जगाकर नीचे लाऊ।

मगर मैं कुछ करूँ, इससे पहले ही वह 'कुत्ता' फिर भौंक पड़ा।

'इसे क्या आँखें फाड़-फाड़ कर देख रही है।—क्या नजर लगायेगी इसकी जवानी को ? तेरी तरह बुढ़िया नहीं है यह। एकदम ताजा खिला फूल है। जरा नजदीक आकर देखो-टटोलकर देखो-कितना रस है इस रसवन्ती में।'

बीच बीच में गिलास से घूंट लेता हुआ और सिगरेट के कश

लगाता हुआ गंगाधर एकदम खूंखार पशु जैसा लग रहा था। हिन्दुस्तानी फिल्मों में किसी खलनायक को भी इतने घृणास्पद और संत्रासजनक रूप में नहीं देखा था मैंने कभी।

'अपनी मां की लज्जा करो कम से कम',-पहली बार भाभी का स्वर सुनने को मिला तभी।

—इसका अर्थ है कि चाची के साथ भाभी भी हैं यही-सोचकर मन कुछ आश्वस्त हुआ मेरा।

'वाह, वाह मेरी प्यारी भाभी।...लज्जा का उपदेश तुम दे रही हो मुझे? रहने दो अब ज्यादा मत कहलवाओ मुझसे···और फिर लज्जा तो न मेरे बाप जटाधर खरे ने ही की कभी और न मेरी मां ने ही मुझे कभी लज्जा का पाठ पढ़ाया। बाबू जटाधर खरे ने बाल जरूर बढ़ा रखे थे साधुओं जैसे मगर गांव में क्या नहीं किया उन्होंने, इसे तुम मुझसे ज्यादा अच्छी तरह जानती हो प्यारी भाभी। उनके सारे कारनामे तुम्हीं ने तो सुनाये हैं रस ले लेकर मुझे···और अन्त में भला आदमी सन्यासी बनकर, गांव-परिवार को छोड़कर भागा, तब भी अपने नजदीकी पट्टीदार की बीबी को साथ ले गया।······जाओ—ऊपर जाओ—और जाकर अपने उस भड़ुए की बगल में सो जाओ जाकर—मेरे मजे में खलल मत डालो।'

गंगाधर का निशाचरी प्रवचन समाप्त होते होते, जनाने गले से निकली वही 'फिक्‌क' जैसी हंसी फिर पड़ी मेरे कानों में और अगले ही क्षण भाभी मेरी बगल से निकल कर तेजी से ऊपर चली गईं। मुझे जीने में दीवाल से चिपटा देखकर भी वे उसी तरह अनदेखा कर गईं जैसे बरामदे में खड़ी गंगाधर के कुबोलों को सुनकर भी अनसुना कर गई थी।

चाची बरामदे में थीं ही नहीं।

□□

दस

उस रात पानी सुबह के चार-साढ़े चार बजे तक बरसता रहा था और मैं अपने बिस्तर पर, पानी से बाहर फेंकी मछली की तरह तड़फड़ाती रही थी। यह विचार मात्र ही मुझे बिच्छू के दंश की तरह से पीड़ा पहुँचा रहा था कि जिस बराम्दे में कभी पिता जी बैठते होंगे मेरी माँ के साथ, वहीं गंगाधर जैसा कुलांगार एक बाज़ारू औरत के शरीर के साथ मनमानी खिलवाड़ कर रहा था। मकान का यही तो वह मुख्य भाग था जिसे पिताजी ने सबसे पहले बनवाया था। वह कमरा जिसमें वह पतिताधिराज रहता था इस समय, मेरी माँ का था और ड्राइंग रूम के दाँहिनी ओर लगे दोनों कमरों में से एक में पिताजी का वकालत खाता था और दूसरा भाई जी के लिए था। बुआ जी ने ही बताया था यह सब मुझे और उनके कथनानुसार पिताजी अधिकतर बराम्दे में पड़े पलंग पर ही सोते थे और वहीं आराम कुर्सी में बैठकर समाचार पत्र आदि पढ़ते थे, माँ के साथ बातचीत करते थे।""""और आज उसी कुर्सी पर वह पापिष्ठ बैठा शराब पी रहा था और उस पलंग पर वह बाज़ारू औरत पसरी हुई थी।""""और उसी पलंग पर""""। सोच-सोचकर मेरा मन धिक्कार उठता था मुझे कि मैं असहाय पड़ी हूँ यहाँ""" ""और किसी से कुछ कह नहीं सकती, कुछ कर नहीं सकती।

भाभी से जो कुछ कहा था उस कमीने ने, वह एक पहेली सी बनकर रह गया था मेरे लिए। उसका सिर-पैर कुछ भी तो नहीं समझ में आया था मेरे। हाँ इतना जरूर था कि जो कुछ देखा-सुना था अर्द्ध-रात्रि के उस विचित्र 'नाटक' में, उससे भाभी के प्रति मेरा आदर-भाव और द्विगुणित हो गया था, मुझे स्वीकारना पड़ गया था कि भाभी

वास्तव में गीता में वर्णित स्थित-प्रज्ञ की उस स्थिति तक पहुँच चुकी है जहाँ मान-अपमान, सुख-दुःख सब बराबर हो जाते हैं।

सुबह के साढ़े चार बजे हों या पाँच, तभी लगा था मुझे जैसे कोई कार आकार रुकी हो घर के बाहरी प्रागण में। छत की बालकनी से झाँक कर देखा था तो अनुमान सही ही निकला था मेरा। टैक्सी जैसी कोई गाड़ी ही खड़ी थी नीचे पोर्टिको से थोड़ा दूर हट के। उसी में गंगाधर बिठा गया था अपनी उसी रसवन्ती को और तब उसके बाद ही मेरी आँख लग पाई थी घन्टे-दो घंटे भर को।

सुबह जब आँख खुली मेरी, तब दिन चढ़ आया था। भाई जी के ट्रॉजिस्टर पर मानस-पाठ चल रहा था। बिना घड़ी देखे ही समझ गई मैं कि सात बज गया और भाई जी नहाने धोने की तैयारी में होंगे। तभी ध्यान आया कि रक्षा-बन्धन है आज तो। सोचकर उठ तो बैठी तेजी से मगर तभी गंगाधर का ध्यान आते ही दिल बैठ सा गया मेरा।

'क्या उस कुत्ते के भी राखी बाँधनी होगी मुझे'—यह विचार शूल की तरह छेदने लगा मुझे और तबतक छेदता रहा जब तक 'बाथरूम' में नहाते-धोते यह निर्णय नहीं ले लिया मन ने कि नहीं कुछ भी क्यों न हो, खुद भाई जी ही क्यों न आग्रह करें, मगर मुझे उस नर-पशु के राखी नहीं बाँधनी है।

स्नान गृह से निकलते-निकलते योजना भी बन गई मेरी कि राखी बाँधने के लिए नीचे चाची के 'लड्डू गोपाल जी' के मन्दिर में जाने के बजाए अभी भाई जी के कमरे में ही जाकर राखी बाँध दूँगी उनके और उनका मुँह मीठा करा दूँगी। राम भरोसे की दूकान की लौंकी की लौंज भाई जी को विशेष प्रिय थी। वही लौंज और दो राखियाँ मँगाने के लिए महाराजिन की खुशामद ही नहीं करनी पड़ी थी पिछले दिन मुझे बल्कि उसे रिक्शे के तीन रुपये भी देने पड़े थे अलग से। आगे की योजना बड़ी सीधी सादी थी। राखी बाँधकर भाई जी को बाहरी जीने से नीचे ले जाकर, पहले

उन्हें काफी हाउस ले जाना था और वहाँ से उनके अपनी 'क्लिनिक' चले जाने के बाद मुझे किरन की ओर निकल जाना था और सारा दिन उसी के साथ बिताना था। सिनेमा; 'ज़ू', बोटनिकल गार्डन—कहीं भी जा सकती थी उसे साथ लेकर।

मिठाई का डिब्बा और राखी लिए भाई जी के कमरे में जाकर जब उन्हें अपनी योजना बताई तो थोड़ा चौंके पहले तो। बोले—'चाची बुरा तो नहीं मानेंगी ?'

भाई जी का यह कथन, प्रश्न था या एक सपाट अभ्युक्ति मात्र, ठीक से समझ में नहीं आया मेरे।

शायद इसीलिए उलटे प्रश्न कर बैठी मैं—'मेरी अपवित्र छाया से जब स्वयं इतना बचती हैं वे तो अपने सुपुत्र के पावन कर-कमलों को मेरे स्पर्श से कलंकित कराने में ही उन्हें कौन सुख मिलेगा भला ?'

मेरा इशारा, मेरी बीमारी में चाची के एक बार मेरे कमरे में झांकने तक की फुरसत न पाने की ओर था। भाई जी समझ गये मेरे विद्रूप को और—'हो-हो-हो' कर हंस पड़े।

तबतक भाभी एक तश्तरी में कुछ मिठाई, रोली अक्षत और राखियाँ ले आईं, जैसे वे भी मेरी उस योजना में शामिल हों।

'तुम्हारे भाई जी एक बार क्लिनिक जाकर फिर पता नहीं कितनी देर में लौटेंगे ?...तब तक तुम भूखी कैसे रह पाओगी इस कमजोरी में ? इसलिए तुम अभी ही राखी बांध लो भाई जी के', भाभी ने बड़े सहज भाव से कहा।

भाभी को मेरा इतना ख्याल है, सोचकर दिल भर सा आया मेरा। देखती ही रह गई कुछ देर उनकी ओर बाष्प-धूमिल दृष्टि से।...और उतने में ही जो देख पाई वह अद्भुत और अलौकिक सा ही लगा मुझे। रात को उस घटना का नामो-निशान भी नहीं था कहीं उनके चेहरे पर। आँखों में भी ऐसा कोई भाव नहीं था जो बताता हो कि उन्हें तनिक भी स-

है इस बात की कि किसी ने उन्हें इस बुरी तरह से अपमानित और प्रताड़ित होते हुए देखा था मध्यरात्रि के उस 'विष्कम्भक' में उम्र में अपने से पन्द्रह वर्ष छोटे देवर के हाथों। ओठो की मुस्कान तो हमेशा की भाँति रहस्यमय थी ही उनकी। उसमें कितना प्रतिशत व्यंग्य है, कितनी प्रतिशत प्रसन्नता और कितना प्रतिशत छलावा या दिखावा, इसका अनुमान 'मोनालिसा' के प्रसिद्ध चितेरे लियानार्डो डाविंची के लिए भी लगाना कठिन होता शायद।

'अपने दूसरे भाई के राखी उसकी सुविधानुसार बांध देना।'—मुझे उस तरह एकटक अपनी ओर ताकते हुए देखकर ही शायद आगे कह उठी भाभी।

'मगर उसी भाई से तो बचकर यह भागी जा रही है,' भाई जी बोले बीच में ही। 'उसके करकमलो पर अपनी रक्षा का भार नही रखना चाहती यह।—तुम्ही बताओ···

'भाई-बहिन का मामला है यह, इसमें मेरा बोलना क्या उचित होगा?' बेलौस दृष्टि से भाई जी की ओर देखते हुए भाभी ने कहा।

'बोलोगी नहीं तो इसका जिम्मा भी तुम्हे ही लेना होगा अपने ऊपर···'

'यानी कि मुझे राखी बांधनी होगी उसके?' भाभी के स्वर में जरूर कहीं नामालूम सी तल्खी लगी किन्तु, उनके चेहरे पर कहीं कोई शिकन नहीं आई थी।

'बांध देना—अगर दीपा इतना डरती है उससे—तो तुम्ही बांध देना। हर्ज ही क्या है इसमें?' कहते हुए भाई जी शीशे के सामने खड़े होकर बाल काढ़ने लगे कंघे से।

मैं बारी-बारी से कभी भाभी और कभी भाई जी की ओर देखे जा रही थी भौंचक सी। एक सीधी सी बात जो मोड़ ले रही थी वह अच्छा नहीं लग रहा था मुझे।···तभी शीशे में भाई जी के प्रतिबिम्ब पर दृष्टि

ग्यारह

दूध और खीरा-सैन्डविच का सात्विक नाश्ता करने के बाद हम दोनों भाई बहिन घर के बाहरी ज़ीने से उतर ही रहे थे कि ज़ीने के बीच वाले मोड़ पर ही 'दूसरा भाई' आ गया सामने। दीवाल से लगा खड़ा था एक तरफ को। देखकर मेरी तो चोर जैसी हालत हो गई। उस चोर जैसी जो पुलिस से बचने के लिए पीछे की दीवाल फलाग रहा हो और नीचे उतरते ही देखे कि हवलदार जी खड़े हैं सामने ही रास्ता छेके उसका।

—इस शैतान ने तो यहाँ भी पीछा नहीं छोड़ा। क्या, ऐसा शौक़ है इसे राखी बँधाने का—सोचा मैंने और अपनी सकपकाहट को गंगाधर की निगाह से बचाने के लिए पीछे मुड़कर देखने लगी भाई जी की ओर।

तब तक भाई जी भी मेरे बराबर आ गये। गंगाधर को उस तरह दीवाल से चिपका खड़ा देखकर, वे भी सकपका गये क्षण भर को। मगर अगले क्षण ही सहज-संयत भाव से एक सीढ़ी और उतरकर बोल उठे—'क्या बात है गंगा, आज तो बड़े सवेरे उठ गये तुम। क्या कुछ पैसा-वैसा चाहिए ?'

'नहीं'—रूखा-सपाट उत्तर मिला उधर से।

'तो क्या राखी बँधाने आये थे दीपा से ?'

'नहीं। सिर्फ यह कागज देने आया था आपको।'

कहते हुए गंगाधर ने, एक मुड़ा कागज भाई जी के हाथ में पकड़ा दिया और उसके बाद क्षणांश को भी वहाँ रुके बिना ज़ीना उतर गया तेज़ी से। मेरी ओर देखा तक नहीं उसने।

'मगर है यह किस बारे में ?'—भाई जी पीछे से चिल्लाए।

मगर गंगाधर न तो रुका और न उसने कोई उत्तर ही दिया। जीना उतर कर मुख्य द्वार की तरफ मुड़ गया।

भाई जी ने पर्चा खोलकर नहीं देखा। जीना उतरते चले गये चुप-चाप मुझे अपने आगे-आगे किये।

चाची को पहले मैंने ही देखा। जीने के नीचे ही गैलरी के बाहरी छोर पर खड़ी थीं वह। मुझसे तो कुछ नहीं बोली मगर भाई जी पर दृष्टि पड़ते ही कह उठीं—'अरे लल्लू ने तो राखी पहले ही बँधा ली। क्या बात है 'लड्डू गोपाल जी' को बिलकुल भूल गये क्या ?'

'भूले नहीं हैं चाची। आज जरा जल्दी थी इसीलिए ऊपर ही बँधा ली राखी।——'लड्डू गोपाल जी' के भोग के लिए कोई कमी हो तो बताओ'—भाई जी ने विनोदात्मक स्वर में कहा।

'अब तो कृष्ण-जन्माष्टमी आ रही है भैया। बताओ क्या-क्या खाओगे तुम ? बाजार में तो आग सी लगी है एकदम। खरबूजे की मींग-पंडिज्जी बता रहे थे—६०-६५ पर पहुँच गई है इस साल। देसी घी, मावा, गोंद, गिरी, इलायची, भोग की सभी चीजों का तो अकाल हो गया लगता है।'

कहते-कहते चाची ने आंचल के नीचे से निकाल कर एक पर्चा आगे बढ़ा दी भाई जी की ओर।

'अच्छा तो तुम भी पर्ची लिए हो एक ? मगर मैं क्या करूंगा इसका ?' पूछा भाई जी ने। बात कहते हुए एक हल्का सा बल आ गया था भाई जी के माथे पर।

'अब पंडिज्जी बिचारे बुढ़ापे में कहाँ टक्करें खाते फिरेंगे इन चीजों के लिए-–तुम्हीं मँगवा लेना लल्लू-भैया अपने कम्पाउंडर के हाथ। नौकर का तो भरोसा नहीं कोई।' चाची बोल उठीं घिघियाती सी आवाज में।

'अरे चाची, हमें इस झंझट में मत फांसो। तुम्हारे मन की चीज नहीं आयेगी तो कहोगी कि कम्पाउन्डर ही पैसा खा गया होगा। पंडित

कन्हैयालाल से ही मंगवाना सब सामान। असली-नक़ली की पहचान उनसे और तुमसे ज्यादा और किसे है ?'

कहकर भाई जी ने पर्स से सौ-सौ के दो नोट निकाल कर चाचीकी तरफ बढ़ा दिये मय उनकी पर्ची के। गंगाधर का पर्चा पर्स में रख लिया।

'अरे भैया पडिज्जी मे अब वह कस-बल थोड़े ही रह गया है'——

'कैसी बातें करती हो चाची ? मुनीम जी को कौन कहेगा बूढ़ा भला ?'

कनखियों से मेरी ओर दृष्टिपात करते हुए, थोड़े और पुर-मज़ाक लहजे में भाई जी बोलते चले गये।— 'पंडित कन्हैयालाल जिस दिन बूढ़े हो जायेंगे उस दिन जवान बचेगा कौन इस घर में ? अरे उनसे और तुमसे ही तो इस घर की शोभा है। तुम दोनों के बूते ही टिका है यह घर। तुम्हारी बड़ी बहू तो कहती है कि तुम्हारे साथ बाहर निकलते संकोच होता है उसे कि कहीं देखने वाले उलटी बात न समझ लें।'— भाई जी को बड़ा आनन्द सा आता लग रहा था, इन ऊल जलूल बातों मे।

'उलटी बात कैसी' पूछा चाची ने और साथ ही दोनों नोट और पर्ची अपने हाथ मे ले लिए। ऊपर से मुद्रा ऐसी भोली बना ली कि हँसी छुपाने के लिए मुझे मुँह मोड़ लेना पड़ा अपना।

'बहू को सास समझें देखने वाले और सास को बहू तो उलटी बात हुई न ?'—कहकर ठठाकर हँस पड़े भाई जी और हँसते हुए ही मुझे हाथ से खींचते हुए से मुख्य द्वार से बाहर आ गये।

भाई जी ऐसा क्रूर और निर्मम मज़ाक भी कर सकते हैं किसी के प्रति यह मेरे लिए अकल्पनीय था। और फिर चाची के लिए तो कभी कोई कटु शब्द या व्यंग्य-वचन उनके मुँह से सुना ही नहीं था किसी ने। उलटे, जानने वाले लोग इसी बात पर ताज्जुब करते थे कि वे चाची के

प्रति इतने सदय और उदारमना क्यों हैं ? चाची ने तो अपने जीते जी कभी ऐसा कोई काम किया नहीं था, अपने भतीजे के प्रति या उसकी बहिन के प्रति—या उसकी पत्नी के ही प्रति, जिसका अहसान माना जाय या जिसके कारण उन्हे शुभचिन्तक ही माना जाय इस परिवार का। काम तो बस ऐसे किये थे बचपन में ही मातृ-पितृ विहीन हुए इन दोनों बच्चों के प्रति कि जो सुने वही दांत तले उंगली दबा ले या फिर कह पड़े—छिः ऐसे भी होते हैं भला चचा-चाची जिन्होंने अपने सगे भतीजे-भतीजी के लिए, उनके यकायक अनाथ हो जाने की उस कठिनतम घड़ी में भी अपने घर का द्वार न खोला हो और न किसी अन्य प्रकार से ही उनकी कोई सहायता की हो' ।……ऐसी चाची, जिसने जब तक गांव में रही, साझे की खेती-बाड़ी से भी कभी एक पैसा नहीं रक्खा इन बच्चों के हाथ पर और जब गांव का ज़मीन-मकान, सभी धीरे-धीरे निखट्टू पति की लिप्साओं-शराब, जुआ और औरत-की भेंट चढ़ गया, तब पति के 'साधू' बनकर गांव से निकल भागने के साथ ही, अठारह-उन्नीस साल के अधबिगड़े पुत्र को लेकर आ बैठी भतीजे की छाती पर मूंग दलने और भतीजा भी ऐसा पागल कि 'पिछली बीती बिसारि के' चाची को मां की जगह स्थापित कर दिया घर में, चचेरे भाई गंगाधर को मार-कूट के बी.ए. और ला कराया और उसकी बिगड़ी आदतों और आवारगी से अवगत होते हुए भी चाची की बहू का मुँह देखने की 'अन्तिम' अभिलाषा-आकांक्षा भी पूरी कर दी ।……ऐसी चाची, जिसने उस अन्तिम अभिलाषा की पूर्ति के बाद भी भतीजे को दोनों हाथों लूटा । खुद लूटा, पुत्र से लुटवाया, और जब से पौत्र बोलने लायक़ हुआ उसका प्रयोग भी इसी काम के लिए किया । लूटने के इस काम में अपनी सहायता के लिए गांव से अपने पुराने अनुभवी मुनीम और कुलपुरोहित पं० कन्हैयालाल को और बुलवा लिया । पिछले ५-६ साल से यही लूट चल रही थी सदल-बल चाची की ओर से और भतीजा था कि लुट रहा था मजे मजे में, 'स्नेह-

मयी' चाची की 'पवित्र आकांक्षाओं' को पूरी तरह समझते बूझते हुए भी। कभी एक शब्द भी नही निकाला था उस भतीजे ने इस चाची के खिलाफ और न उस पत्नी और बहिन को ही निकालने दिया था जो शुरू से ही चाची और उनके पुत्र को इस घर में बसाने के विरुद्ध थीं। बड़े सब्र से अपने ही लोगों द्वारा अपना शोषण होता हुआ देख रहा था।

—उसी सब्र का बांध आज टूट गया शायद और इसीलिए कदाचित् ऐसा मार्मिक मज़ाक कर सके भा. जी चाची से—सोचकर समझाना चाहा मैंने अपने मन को।

तबतक भाई जी की गाड़ी गैराज से बाहर निकल आई थी और भाई जी बार बार 'हार्न' दे रहे थे मेरा ध्यान आकृष्ट करने को। जाकर कार में बैठने से पहले बहुत इच्छा हुई कि अन्दर जाकर एक बार चाची को देख आऊँ कि क्या प्रतिक्रिया हुई है उन पर भाई जी के उस मज़ाक की। मगर तभी लगा मुझे कि मन की यह मांग इसलिए नहीं है कि चाची के प्रति बड़ी कोमल भावनाएं थीं अन्तर में मेरे बल्कि चाची के प्रति भाई जी जैसी कटुता मेरे अन्तर में भी पल रही थी कहीं और वही कटुता चाची की दुर्दशा दिखाने मुझे अन्दर ले जाना चाहती थी।

मन ने ही मन का पहला इरादा खण्डित कर दिया और मैं आगे बढ़कर भाई जी के बराबर की सीट पर बैठ गई।

भाई जी के सुदर्शन मुख पर वह 'अति-प्रसन्नता' वाला भाव तो नहीं था जिसे लेकर वे अपने कमरे से चले थे किन्तु फिर भी मुद्रा सामान्यतः प्रसन्न कही जा सकती थी।

—इन्हें भी शायद कुछ खेद है चाची के प्रति अपने उस व्यवहार पर—सोचा मैंने।

—या हो सकता है कि भाभी से उस व्यंगात्मक लहजे में बात करने पर ही ग्लानि अनुभव कर रहे हों कुछ—या शायद गंगाधर जो पकड़ा गया जीने में, उसी का सोच हो मन में,——कार के गति पकड़ने के साथ साथ सोच भी बढ़ता गया मेरा!

—क्या गंगाधर का यह व्यवहार भी एक कारण हो सकता है भाई जी के सब्र का बाँध टूटने का ? मगर उसमें तो कोई नई बात थी नही । अक्सर ही पर्चियाँ भेजकर भाई जी से पैसा माँग चुका है । फिर वैसी ही कोई माँग की होगी । और भला कौन सा कारण हो सकता है इस अचानक विस्फोट का कि मजाक में ही सही, पचपन साला चाची को बहू बना दिया और ३८-३९ वर्षीया पत्नी को बूढी सास बना दिया,—आगे सवाल कर बैठा मन ।

तभी, 'तेरी तरह बुढिया नही है यह—एकदम ताजा खिला फूल है'—गंगाधर की पिछली रात की बात कौंधा सा मार गई मेरे मन मे ।

—'तो क्या भाई जी ने भी तो कही मध्य-रात्रि का वह नाटक नही देख-सुन लिया ?' एक बडी बेसिर-पैर की शका मानो सिर उठाकर खडी हो गई हो मेरे मन मे । सोचा, भाई जी से ही पूछकर क्यो न समाधान कर लूं इसका ।

थोड़ा निकट सरककर कहा—'भाई जी ।'

भाई जी ने जगह जगह बरसाती गड्ढो से भरी और बरसात के कारण ऊबड़-खाबड बनी सडक पर दृष्टि जमाये ही 'हूँ' भर कर दिया ।

मगर तभी मेरी बोलती बन्द हो गई । जिह्वा बोल भी कैसे पाती ऐसी विषम लज्जा की बात ।

'बोल—न', भाई जी ने टोका । 'क्या कह रही थी ?'

'अगर दो सौ की जगह सौ ही देते आप चाचो जी को तो क्या काम न चलता ?' गले का थूक किसी तरह निगलकर जो जुबान पर आया उस क्षण वही बोल उठी मैं ।

'चाची के लड्डू गोपाल जी के भोग का काम इतने मे ही चल जाये तो भी ग़नीमत समझना । कल-परसो तक और भी मांग आएगी ।' भाई जी ने कहा अविचल भाव से ।

'और गंगाधर ने क्या माग की अपनी पर्ची मे ?'

'अभी देखा कहाँ है उसे।—वैसे उस ग़रीब ने भी पैसा ही मांगा होगा। पैसा ही तो असल चीज है आज की दुनियां में'—कहकर तनिक विद्रूप भरी मुसकान के साथ भाई जी ने मेरी तरफ देखा।

'और आप उस गरीब को दे देंगे, जो कुछ मांगेगा वह ?' मैंने कुछ तीखे स्वर में पूछा।

'इतनी हैसियत कहाँ है मेरी, दीपू, कि उसकी सब इच्छाएँ पूरी कर सकूं। जो संभव होगा, दे दूंगा।'

'और इसी प्रकार माँ-बेटे के हाथों कब तक लुटते रहेंगे आप ?'

'जब तक ऊपर वाला चाहेगा'—कह कर हंसे भाई जी एक बेरंग हंसी। थोड़ा रुककर बोले, 'नसीब तो वही बनाता है न ?—मेरे तेरे नसीब में उसने लुटना ही लिखा है।'

'और आपको, लगता है, इस लुटने में ही आनन्द आने लगा है अब।' मेरे स्वर की तलखी और बढ़ गई थोड़ी।

'बिलकुल सही बात कह दी तूने दीपू—वह किसी ने कहा है न, —'मज़ा अब दर्द में आने लगा है'—कहते हुए भाई जी ने सामने के शीशे का 'वाइपर' चालू कर दिया। अच्छी खासी बूंदें पड़ने लगी थीं इसी बीच में, जिनकी ओर मेरा ध्यान ही नहीं गया था।

बूंदों से बचने के लिए मैंने भी अपनी ओर का शीशा चढ़ा लिया।

तभी भाई जी ने गाड़ी को मोड़ा और हनुमान मन्दिर के बग़ल वाली पार्किंग-स्पली में ले जाकर खड़ा कर दिया।

'आज क्या हनुमान जी के दरबार में प्रसाद चढ़ाने का इरादा है ?' पूर्व—निर्धारित कार्यक्रम में व्यवधान की आशंका से पूछा मैंने।

'प्रसाद भी चढ़ा देंगे, अगर तेरी इच्छा होगी। वैसे अपना इरादा तो पास के नये रेस्त्रां में चाय पीने का है तेरे साथ। काफ़ी हाउस में तो बड़ा शोरो-गुल रहता है इस वक़्त। क्यों ठीक है न ?'

मेरे सिर हिलाकर हां कर देने पर भाई जी ने बाहर निकल कर

गाड़ी लॉक की और अपना रेन कोट मुझे सिर से उढा दिया। स्वयं भीगते हुए ही चलकर मन्दिर के सामने बने संकरे से अहाते में खड़े हो गये। पर्स निकाल कर बीस का नोट मुझे पकड़ा दिया प्रसाद खरीदने को और खुद बड़े श्रद्धा-भाव से हाथ जोड़कर और आंखे मींच कर खड़े हो गये भगवान-भगवती के सामने।

मन्दिर में स्थापित मूर्तियां जितनी अद्‌भुत और रहस्यमय सी थीं, उतने ही अद्‌भुत और रहस्यमय भाई जी भी लगे मुझे उस क्षण। फिर लगा जैसे भाई जी की भक्ति का बुखार मुझे भी आक्रान्त कर रहा है। प्रसाद की टोकरी आरती उतारने आ रहे पुजारी जी को सौंपकर मैं भी खड़ी हो गई हाथ जोड़कर उस त्रिमूर्ति के सामने। बूंदा-बांदी के साथ हवा भी कुछ ज्यादा ही तेज हो गई थी उस घड़ी। मगर भाई जी निश्चिन्त खड़े थे भीगी पीठ पर बरसाती ठंडी हवा के थपेड़े झलते हुए।

मेरे लिए यद्यपि, लबे सड़क किसी देव-मूर्ति के सामने, आँखें मींचे हाथ जोड़े इस तरह खड़े होने का यह पहला अनुभव था, मगर अच्छा मुझे भी लग रहा था उस समय घंटा-घड़ियाल की ध्वनि के बीच उस अर्चना मुद्रा में खड़े-खड़े। मन्दिरों में घन्टे-घड़ियाल और दमामे बजते सुने पहले भी थे न जाने कितनी बार, मगर ध्वनि में भी शान्ति होती है, यह अनुभूति पहली बार हुई थी उस दिन।

आँखें मींचे सोचने लगी कि अपनी किस मनोकामना की पूर्ति के लिए प्रार्थना करूँ भगवान से। प्रसन्न की सुख शान्ति के लिए प्रार्थना करूँ या भाभी जी के सन्तान सुख के लिए। फिर मन में आया कि कहीं भाई जी सन्तान-याचना के चक्कर में ही तो अर्द्ध नास्तिक से इतने जबर्दस्त आस्तिक नहीं बन गये हैं और कहीं इस समय पवन-पुत्र हनुमान से सन्तति-वर ही तो नहीं माग रहे हैं। सोचकर दया आ गई भाई जी पर कि देखो सारे वैज्ञानिक और अर्द्ध वैज्ञानिक नुस्खों, उपायों को आज-माने के बाद, इस डाक्टर को भी शरण लेनी पड़ी है 'इनको'। लिहाजा

पहली प्रार्थना मैंने हनुमान जी से यह की कि भाभी-भैया को असंहति-संकट से उबार दो प्रभु...फिर भाई जी का 'चलो भई' शब्द सुनते ही, दूसरी याचना जल्दी-जल्दी में यह कर डाली 'उससे' यानी हनुमान जी के भी इष्टदेव से कि प्रसन्न को प्रसन्न रक्खें, उनका जीवन-लक्ष्य पूरा करें।

भाई जी ने मेरा कन्धा फिर हिलाया और अधीरज के स्वर में बोले—'जल्दी कर दीपा, तेज बारिश आने वाली है।' कहकर एक हाथ में वापस मिले प्रसाद की डलिया लिए और दूसरे से मुझे खींचते हुए वे पास की दूकान के बरामदे में जा घुसे जहाँ एक गाय पहले से बैठी थी।

इस छोटी सी ही कसरत में वे भी हाँफ गये और मैं भी थक सी गई। कुछ मुस्का कर, बालों और मुह की बूँदें रूमाल से झाड़ते-पोंछते हुए मानो अपने आप से ही बोल उठे भाई जी कि 'कलियुग में तो बस तेरा ही आसरा है पवनपुत्र।'

'पवनपुत्र से कहो कि तुम्हें लुटने न दें अपने ही कुटुम्बियों द्वारा',—कौतुक कौतुक में ही कह उठी मैं।

'अरे तू नहीं समझती दीपा, अपनों के हाथों जानते-बूझते लुटने का मजा ही और है......'

'अच्छा रहने दीजिए अपनी फिलासफी',—मैंने किंचित् झुंझलाए स्वर में कहा। तभी मुझे गंगाधर के उस पर्चे का ख्याल आ गया जो भाई जी ने पर्स में रख लिया था।

'भाई जी उस गंगाधर गधे का वह पर्चा निकालिए न। देखें तो इस बार कितनी फिरौती धनराशि की माँग की है उस लुटेरे ने।'

भाई जी ने हँसते हुए पर्स निकाला जेब से और उसमें से वह पर्चा निकाल कर खोला। पत्र पर पहली नजर पड़ते ही कुछ चौंक से गये। आँखें फैलाकर बोले,—'है तो यह 'रैन्सम' पत्र ही—अबकी तो सीधे अपने इस मकान के बँटवारे के लिए लिखा है पट्ठे ने।'

'अच्छा उसका यह दुस्साहस ?' निकल ही तो पड़ा मेरे मुंह से ।

'अच्छा तो लगे हाथों तू एक दुस्साहसी पत्र और पढ ले । इसी को समझ लेना बहिन को भाई की रक्षा-बन्धन की दक्षिणा । मगर यहां नहीं घर पर पढ़ना ।' कह कर भाई जी ने वह दूसरा कई परतों में मोड़ा गया पर्चा मेरे हाथ में पकड़ा दिया ।

तब तक काफी हाउस के मक़बूल मियाँ मेरी नजर में पड़ गये । काफी हाऊस के अपने किसी स्थायी संरक्षक के लिए पान की गिलौरिया लेने आये थे शायद बराम्दे में ही लगी पान की उस मशहूर दूकान से ।

भाई जी ने उन्हें देखा तो हंस कर पूछा,—'कैसे निकल पडे अपने अड्डे से आज, मक़बूल भाई ?'

मकबूल मियाँ कुछ कहें, इससे पहले ही फिर पूछा,—'अपने प्रसन्न बाबू यानी अपने 'संगीता चारी' जी को तो नही देखा काफी हाउस में आज ?'

सुनकर मैं हकबका गई एक संग । यही सवाल तो मैं पूछने जा रही थी मकबूल से । बल्कि सच कहा जाय तो प्रसन्न से मिलने के लिए या उनकी कुछ खबर पाने के लिए ही मैंने काफी हाउस का प्रोग्राम रखा था ।

'अरे—हजूर—वह तो दो दिन से नहीं आये हैं काफी हौस ।' मकबूल मियाँ ने जवाब दिया कुछ संजीदा स्वर में । उनके वह 'खबीस' दोस्त जसोदानन्दन आये थे कल । कह रहे थे कि जोशी साहब की बीबी अस्पताल में पड़ी हैं,—हर्ट-अटैक' हुआ था उन्हें ।'

'हार्ट—अटैक-हुआ है ?' मैं क़रीब-क़रीब चिल्ला सी पड़ी मकबूल मियाँ की बात पूरी तरह न समझ पाने के कारण । 'किसे हुआ है हार्ट अटैक ? क्या प्रसन्न बाबूको......यानी जोशी जी को ?'

मकबूल मियाँ प्रसन्न को 'जोशी जी' या 'संगीताचारी' में ही जानते थे ।

'नहीं बीबी जी—हार्ट अटैक संगीताचारी जी को नहीं बल्कि उनकी 'वैफ' को हुआ बता रहे थे जसोदा बाबू तो।'

जसोदा बाबू लखनऊ के पुराने रईसों और प्रसन्न के परम-प्रशंसकों में से एक थे।

—तो खतरा मेरे प्रसन्न को नहीं है—बल्कि उनकी पत्नी-यानी शान्ति बहिन को है,—सोचकर अनचाहे ही आश्वस्ति भरा गहरा निःश्वास निकल गया मेरे मुंह से।

'किस अस्पताल में है, मालूम है ?'—मैं पूछूं, इससे पहले भाई जी ने पूछ लिया मकबूल मियाँ से।

'बलरामपुर अस्पताल का नाम ले रहे थे।—बताया तो वार्ड और बैड का नम्बर भी था हुजूर, मगर मुझे ठीक याद नहीं......'

मगर उसके बाद मकबूल की बात सुनने के लिए वहाँ नहीं ठहरे भाई जी। वर्षा में भीगते हुए ही लपक लिए कार की तरफ और मेरे कार में बैठने और दरवाजा बन्द करने के साथ ही उन्होंने गाड़ी 'स्टार्ट कर दी।

□□

बारह

वह सारा दिन दौड़-धूप में ही बीत गया। मेरा कम, भाई जी का ज्यादा। बल्कि कहना चाहिए कि दौड़-धूप तो सारी की सारी भाई जी के ही हिस्से मे रही, मेरा काम तो बस शान्ति बहिन के 'बैड' के पास बैठे भर रहना रहा था। शुरु के कुछ घन्टे 'इन्टैन्सिव केअर में और जनरल वार्ड मे और बाद में भाई जी के रसूख से किसी तरह मिल गये प्राइवेट वार्ड के एक कक्ष में। गनीमत केवल यही थी कि प्राणान्तक खतरा टल गया था उस समय तक और डॉक्टर शान्ति बहिन की जीवन रक्षा के प्रति अशावान् हो चुके थे।—फिर उस दिन इन्टैन्सिव केअर से, शिफ्ट भी तो अचानक ही, बिना किसी पूर्व सूचना के, एक जवान डॉक्टर-मरीज के वहीं उसी वार्ड के अपने बैड पर दम तोड़ देने के कारण होना पड़ा। और क्योंकि उस समय तक 'प्राइवेट वार्ड' सुलभ नहीं हुआ था इसलिए जनरल वार्ड में ही शरण लेनी पड़ी थी दो-ढाई घंटे के लिए। बड़ी भारी मुसीबत का सामना करना पड़ा था 'शिफ्टिंग' की उस घड़ी में। सहायता के लिए कोई भी तो नही था उपलब्ध उस समय। न कोई डॉक्टर और न कोई नर्स। ऐसा लग रहा था कि जैसे अस्पताल का सारा स्टाफ ही उस मृत डॉक्टर का मातम मना रहा हो। मातम मनाना, वैसे तो स्वाभाविक ही था, उन सबों के लिए अपने ही पेशे से सम्बद्ध एक जवान व्यक्ति की असामयिक मौत पर मगर एक तकलीफ देह सचाई यह भी थी कि उनका यह शोक प्रदर्शन अपने एक सहकर्मी की मृत्यु के नाते उतना नही था, जितना इस नाते कि डॉक्टर एक मंत्री का पुत्र था।...बड़ी कठिनाई मे भाई जी ही ... के दो कर्मचारियों को पटा-पट्ट कर लाये थे एक 'मोबाइल-स्ट्रेचर'

और तब जाकर कहीं, प्रसन्न, भाई जी और मेरे सम्मिलित उद्योग से शान्ति बहिन उस जनरल वार्ड के एकमात्र खाली बैड पर 'शिफ्ट' हो पाई थीं।

प्रसन्न का कंचन-गौर मुख एकदम सफेद पड़ गया था उस घड़ी जैसे सारा रक्त ही निचोड़ लिया हो किसी ने शरीर से। उस पर भाग्य का यह मजाक कि जनरल वार्ड में जो नया बैड मिला, वह था नम्बर तेरह। शान्ति बहिन को बिस्तर पर लिटाकर, प्रसन्न देखते ही रह गये थे, बैड के पीछे दीवाल पर काली स्याही में लिखे उन अंकों को। अधिक से अधिक ४-५ वर्ष के कारावास दण्ड की उम्मीद हृदय में पालता आया अपराधी न्यायाधीश के मुख से अचानक ही मृत्यु-दण्ड की घोषणा सुनकर जैसे हतवाक्, मुँहफाड़े ताकता रह जाता होगा जज की तरफ, कुछ वैसा ही हुलिया हो गया था प्रसन्न का उस क्षण।

समझाया भाई जी ने भी था उन्हें एक ओर ले जाकर और थोड़ी देर बाद वार्ड की हैड-नर्स भी आकर आश्वासन दे गई थी कि बैड नं० २४ घंटे-आध घंटे में ही खाली होने वाला है और उसके खाली होते ही शान्ति बहिन को उस बैड पर 'ट्रान्सफर' कर दिया जायेगा। मगर प्रसन्न के मुख पर छाई गहरी उदासी तभी गई जब दो घंटे के भगीरथ प्रयत्न के बाद भाई जी ने अस्पताल सुपरिटेंडेन्ट का प्राइवेट वार्ड के कक्ष नं० पाँच का आवटन-आदेश प्रसन्न के हाथों में लाकर रख दिया। प्रसन्न ने भावावेश में खड़े होकर भाई जी का वह बढ़ा हुआ हाथ दाब लिया अपने दोनों हाथों में और अपनी छलछलायी दृष्टि भाई जी के मुँह पर गड़ाए ही रहे गये कुछ क्षणों तक। काश मेरा कैमरा होता उस समय मेरे पास और भाई जी और प्रसन्न की उस क्षण की छवि को क़ैद किया जा सकता चित्र रूप में हमेशा-हमेशा के लिए। दुर्लभ और अनुपम ही तो थी वह छवि, एक समय के उन अभिन्न मित्रों की जिनकी मित्रता के सदाबहार पुष्प में एक अवांछनीय प्रेम-प्रकरण बेरहम परजीवी कीड़े की

तरह घुसकर उसकी सारी आब ही हर ले गया था।···आज यह मौका फिर दिया था भगवान ने दोनों को कि एक दूसरे को नये सिरे से नई पहचान कर सकें, हृदय से हृदय को टटोल सकें एक दूसरे के, और इस बात के गवाह रहें वे आँसू जो छलछलाकर भी बाहर नहीं निकल पाये, आँखों के कोरों में ही सूख गये...और वे शब्द जो थरथराती हुई जुबान की नोक तक आकर भी मूक दर्शक बने रहे पूरी घटना के और बिना कुछ कहे सुने वापस कण्ठ में लौट गये।

अच्छा ही था कि उस घड़ी शान्ति बहिन की आँख लग गई थी थोड़ी देर को, वरना वे न जाने क्या सोचतीं इस दृश्य को देखकर।

और मैं थी कि बस देखे ही जा रही थी दोनों को और आँखों ही आँखों में पिये जा रही थी दोनों के बीच रिम-झिम रिम-झिम कर बरस रहे उस अद्भुत रस की एक-एक बूंद को।

रस-भंग तो होना ही था आखिरकार और इस अप्रिय काम को अंजाम दिया हैड नर्स की कर्कश वाणी ने जो २४ नम्बर बेड के खाली होने की सूचना दे रही थी हमें।

उसके प्रति धन्यवाद ज्ञापन करके ही हम लोग शान्ति बहिन को प्राइवेट वार्ड के कक्ष नं० ५ में ले आये थे किसी तरह और वहाँ पहुँचकर ही मैं उन दोनों को एक-एक प्याला चाय पिला पाई थी, अस्पताल के कैन्टीन के छोकरे के हाथ मंगाकर। प्रसन्न के गले से शायद एक बूंद पानी की भी नहीं उतरी थी उस दिन सुबह से, इसीलिए चाय की हर घूंट वह ऐसे ले रहे थे जैसे अमृत पी रहे हों।

उसके बाद तो जैसे अग्नि-परीक्षाओं की एक लम्बी शृंखला शुरू हो गई हो मेरे लिए। कब सुना होगा किसी ने कि किसी गम्भीर रोगी की तीमारदारी की सम्पूर्ण जिम्मेदारी एक ऐसे व्यक्ति को सौंप दी जाय जिसका सबसे बड़ा लाभ इसी में निहित हो कि रोगी बेमौत मर जाय।

मगर इन दोनों मित्रों ने, पता नहीं क्या सोचकर यही मजाक किया था मेरे साथ। मुझे छोड़ दिया था जीवन-मृत्यु के बीच झूलती हुई उस निरीह बेबस औरत के साथ प्राइवेट कक्ष नं० ५ में और खुद भग गये थे उन जीवनदायिनी दवाओं के मुहय्या करने में जो अस्पताल में सुलभ होते हुए भी जन-साधारण के लिए अलभ्य थीं और जिन्हें वही पा सकता था, जिसके पास या तो पैसा हो या फिर किसी वी० आई० पी० का परिचय पत्र हो।

हर घंटे-दो घंटे पर स्वयं प्रसन्न या भाई जी चले आते थे भागे-भागे वार्ड में यह पूछने को कि डाक्टर 'विजिट' पर आये थे या नहीं, या कि कोई नई बात तो नहीं बताई उन्होंने, मौसमी का रस या ग्लुकोज पिलाया या नहीं रोगिणी को मैंने-इत्यादि इत्यादि। और मैं थी कि बैठी रहती थी आसन जमाए एक लोहे के स्टूल पर शान्ति बहिन के पायताने और देखती रहती थी शान्ति बहिन के उस निरीह-निश्छल चेहरे को, यह जानने को कि उनके मन में मेरे प्रति क्या भावना आ जा रही है। देखा इससे पहले भी था उन्हें दो बार। पहली बार तो एक संगीत-समारोह में और दूसरी बार उनके ही घर पर जयन्त के आठवें जन्म-दिवस पर, नाइजीरिया जाने से पहले। दोनों अवसरों पर यही भाव उपजा था मन में कि यही तो औरत है जो मेरे और प्रसन्न के परिपूर्ण मिलन में एक मात्र बाधा है। दूसरी बार तो मन में यह भी आया था कि क्या यह बाधा किसी तरह—भले ही वह मृत्यु क्यों न हो—हट नहीं सकती मेरे और प्रसन्न के मार्ग से। मगर तभी शान्ति बहिन ने दूसरे कमरे में अपने हम-उम्र संगी-साथियों के साथ अपना जन्मोत्सव मनाते हुए नन्दन को मेरे पास लाकर जिस प्रेम और आत्मीयता से मेरे पैरों में झुका दिया था चरण स्पर्श के लिए, उसने मुझे हतवाक् कर दिया था कुछ क्षणों के लिए। आशीर्वाद देने की औपचारिकता भी नहीं निभा पाई थी ठीक तरह से। किसी तरह दो आशीर्वादात्मक शब्द बुदबुदाकर देखती

ही रह गई थी उस भोले भाले बालक की कुन्दनवर्णी मोहिनी छवि को, जो माँ के पार्श्व से लगा खड़ा था आँखें नीची किये हुए और उसकी पाँच-छः वर्षीया बहिन जयन्ती को, जो इसी बीच माँ के पास आ खड़ी हुई थी अपनी झिलमिलाती पोशाक में और अपने मृगशावकी नेत्रों को फाड़े देखे जा रही थी मेरी ओर। शान्ति बहिन के बहुत कहने पर भी कि यह तुम्हारी मौसी जी हैं,—नमस्ते नहीं किया इन्हें, वह सकुची-सकुची सी ही खड़ी रही थी। अन्त तक हाथ नहीं जोड़े थे उसने।

—इस बच्ची ने शायद मेरे सही रूप को पहचान लिया है—मन मे आया था मेरे, और पानी-पानी हो गई थी। मैं लज्जा और आत्मग्लानि के मारे। धरती फट जाये और छुपा ले मुझे अपनी गोद में, जैसी कामना भी कोई सच्चे मन मे कर सकता है कभी, यह उसी क्षण जाना था मैंने।

सकपकाई दृष्टि से शान्ति बहिन की ओर देखा तो वे खिलखिलाकर हँस जा रही थी अपने बच्चों के शरमीले स्वभाव पर। बड़ी ही मन मोहक और संगीतमय हँसी थी उनकी वह,—एकदम बेलाग और पार-दर्शिणी। और उस क्षण में साधारण से नाक-नक्श और सामान्य सी देहयष्टि वाली वह नारी कितनी सुन्दर लगी थी मुझे, क्या बताऊँ। मेरा सारा अहंकार और रूप-दर्प उनके चरणों मे सिमट कर रह गया था।

'बड़ी ज़िद्दी लड़की है यह, मौसी को प्रणाम तक नहीं करती', कहते हुए जयन्ती को गोद में उठा लिया था उन्होंने। मेरी तरफ उंगली से इशारा करती हुई कह रही थीं,—'मौसी को नहीं पहचानती—ऐं' ?

'नहीं वह अच्छी तरह पहचानती है अपनी मौसी को,'— अप्रयास ही निकल गया था मेरे मुँह से और मैंने सहज होने की कोशिश मे आगे बढ़कर जयन्ती को अपनी बाँहो में ले लिया था।

माँ की बहिन को मौसी क्यों कहा जाता है, यह उसी दिन स्पष्ट हो

पाया था मुझे। मौसी याने माँ के समान। शान्ति बहिन ने शायद अपने पति और मेरे बीच चल रहे प्रणय-व्यापार की जानकारी होते हुए भी मुझे अपनी बहिन और अपने बच्चों की मौसी बना दिया था।—मैं और मौसी? अभी कुछ क्षण पहले जो इन बच्चों का बुरा चीत रही थी, जो इन शिशुओं के मातृ-वंचित होने की दुष्कामना कर रही थी—उसी पर अकृत्रिम स्नेह की ऐसी भाव-भीनी वर्षा? उसी के प्रति इतना अपनत्व, इतना विश्वास?

विदा लेकर चलने पर, घर के द्वार तक पहुँचाने आई थीं शान्ति बहिन मुझे और चलते समय मेरी आँखों में आँखें डालकर अनुनय सी की थी मेरी,—'अब तो इस घर का रास्ता देख लिया है न, अब आती रहना, अपनी इस बहिन को और अपने इन बच्चों को भूलना मत।'

उसी दिन निर्णय ले लिया था मैंने; अपने सम्पूर्ण अन्तःकरण से और अपनी समझ में अन्तिम रूप से कि अब शान्ति बहिन नहीं हटेंगी मेरे और प्रसन्न के मार्ग से बल्कि मैं ही हट जाऊँगी उन दोनों के मार्ग से। विदेश जाने की बात का बीज शायद उसी दिन पड़ गया था मेरे मन के किसी गहरे कोने में। और इसीलिए शायद नाइजीरिया से लौटने के बाद एक बार भी शान्ति बहिन से मिलने का साहस नहीं संजो पाई थी अपने अन्तर की अपराध भावना के कारण।

मगर नियति शायद इसी को तो कहते हैं। यदि मैं नहीं जा पाई थी शान्ति बहिन के पास, तो शान्ति बहिन स्वयं ही आ गई थीं यहाँ अस्पताल में मेरे पास और लाचार-अवश लेटी थीं मेरे सामने अस्पताल के इस कक्ष में,—सोचकर मेरा मन न जाने कैसी अननुभूत ग्लानि से भर गया।

'पानी'—हल्की सी क्षीण आवाज़ पड़ी मेरे कानों में तभी।

किंचित् चौंक कर देखा मैंने बेड के सिरहाने की तरफ। शान्ति

बहिन की आँखें बन्द थीं पूर्ववत् मगर ओंठ खुल-भिच रहे थे।

ड्यूटी—नर्स बता गई थी कि पानी माँगने पर 'बार्ली-वाटर' ही देना। तेजी से उठकर मैंने बार्ली वाटर के दो चम्मच टपकाए उनके मुँह में और तौलिये से मुँह पोंछ दिया। पानी गले से उतरा तो शान्ति बहिन ने आँखें खोलीं थोड़ी सी और फिर धीरे से बन्द भी कर ली। फिर ओठों पर जीभ फिराते हुए, आँखें बन्द किये किये ही अस्फुट स्वर में कहा—'औऽर'।

मैंने दो चम्मच बार्ली और पिलाया और आशंकित होकर वहीं वेड पर ही किनारे से टिक गई।

—कहीं तबियत फिर बिगड़ तो नहीं रही है, इनकी?—सोचा मैंने और सोचकर ऊपर से नीचे तक काँप गई।

—अगर मेरे यहाँ इनके पास ठहरने से इन्हे कुछ हो गया तो लोग क्या सोचेंगे? कुछ लोग तो यह सोच सकते हैं कि मुझे यानी अपनी प्रतिद्वन्द्विनी को देखकर ही दुबारा आघात लगा होगा रोगिणी के हृदय को।······कुछ यह भी सोच सकते हैं कि मैंने जानबूझ कर अकेलेपन का फायदा उठाकर, तीखे-कटु वचन बोलकर, रोगिणी का 'ब्लड प्रेशर' फिर बढ़ा दिया और उसे मौत के मुँह मे धकेल दिया।······फिर कुछ यह भी तो सोच सकते हैं कि शायद मैंने पानी या बार्ली वाटर के साथ ही कुछ दे दिया मरीजा को अपने मार्ग से हटाने के लिए।

तब कितनी थू-थू होगी भला?

सब लोग घृणा से थूकेंगे मेरे नाम पर?······हत्या का आरोप भी लगाया जा सकता है मेरे ऊपर, न्यायालय में उसे सिद्ध भी किया जा सकता है, परिस्थितिपरक साक्ष्य के आधार पर।

तब प्रसन्न तो क्या, भाई जी भी मेरे लिए कुछ करना पसन्द करेंगे?—क्या आँख उठाकर मेरी ओर देखना भी चाहेंगे वे?—

सोचते हुए मेरा मस्तिष्क भन्ना उठा।

मगर इस औरत के मरने से मुझे क्या वास्तव में रंचमात्र दुःख नहीं होगा ? शान्ति बहिन के फड़कते हुए से ओंठो की ओर देखते-देखते ही मेरा चिन्तन आगे बढ़ चला ।

—'तुम्हें दु.ख क्यों होगा भला' ?— मन में बैठा चोर ही बोल पड़ा हो जैसे ?........'हजरतगंज में खबर-मात्र कान में पड़ी थी कि प्रसन्न की पत्नी को हार्ट अटैक हुआ है और वे अस्पताल मे पड़ी है तो तुम्हारे मुख से निकले उस 'अर्-रे' शब्द मे मन की गहराइयों मे अनुभूत सन्तोष भावना नहीं थी कोई ?'

'उससे दो मिनट पहले ही तुमने प्रसन्न की प्रसन्नता का जो वरदान मांगा था, उसके पीछे भी तो कहीं यह भावना या गलतफहमी नहीं छुपी थी तुम्हारी कि प्रसन्न तो वह तभी होगा जब दीपा मिल जायेगी उसे और दीपा तभी मिलेगी जब शान्ति रास्ते से हट जाय । तो मनोकामना तो यही रही है न तुम्हारी शुरू से ही ? फिर मनोकामना पूरी होने की सम्भावना पर दुःख का प्रश्न कैसा ?'

'और यहीं तक नहीं, जनरल वार्ड मे जब १३ नम्बर बेड पल्ले पड़ा था शान्ति के तब क्या तुम्हारे मन की धुकधुकी कुछ बढ़ नहीं गई थी यह सोचकर कि शायद भगवान को भी मंजूर है शान्ति का तुम्हारे मार्ग से हटना ।'

- नहीं यह सब झूठ है—चिल्ला पड़ने को हो उठा था मन मेरा उस क्षण ।

'और जब भाई जी प्राइवेट वार्ड की तलाश में निकल गये थे औ शान्ति के बेड के पास तुम और प्रसन्न ही रह गये थे, तब प्रसन्न के उस सूखे, पीड़ा-पाण्डु मुख को देखकर कैसी हताशा भर गई थी तुम्हारे मन में कि अगर इतना चाहता है पत्नी को तो तुम्हारे प्रति उसका प्रेम वास्तविक कैसे हो सकता है ?'

—हां यह तो ठीक है—मन ने हामी-सी भरी हो जैसे ।

और सचमुच ही, जनरल वार्ड के उस बेड नम्बर तेरह पर 'सीडेटिव' के प्रभाव में गाफ़िल पत्नी की बगल मे बैठे प्रसन्न मुझे साक्षात् मूर्तिमान दुखी ही लगे थे। जर्द हुए चेहरे पर वेदना और चिन्ता की छाप इतनी गहरी और स्पष्ट थी कि मेरा अपना मन भी हाहाकार कर उठा था।

—प्रसाद जी द्वारा अनुभूत 'घनीभूत पीड़ा' का रूप भी कुछ ऐसा ही रहा होगा—मन में आया था मेरे उस क्षण और मैं फुसफुसाते शब्दों में पूछ बैठी थी प्रसन्न से,—'यह सब मेरे ही कारण हुआ है न?'

'तुम्हारे नहीं मेरे'—प्रसन्न ने बड़े शान्त सहज स्वर में उत्तर दिया था अपनी स्निग्ध दृष्टि मेरे चेहरे पर गड़ाते हुए।

'यह तो एक ही बात हुई', मैंने कहा था हल्के से।

'तुम अपने को दोष मत दो इसके लिए। शुरू से ही गलती मेरी थी,' कहकर प्रसन्न ने अपना एक हाथ, शान्ति बहिन के पार्श्वस्थित हाथ पर टिका लिया था, धीरे से और अत्यन्त स्नेह से।

—'और सबसे बड़ी गलती तो मैंने यह की थी दीपा,' प्रसन्न ने आगे कहा था, 'कि मैं अपने-तुम्हारे सम्बन्ध को अपने तक ही सीमित रखे रहा और इस सरल हृदय नारी की उस विश्वास-भावना को छलता रहा जिसकी मान्यता है कि पति-पत्नी के बीच कोई ऐसी बात हो ही नहीं सकती, जिसे वे एक दूसरे पर उद्घाटित न कर सकें जिसमें, वे पर-स्पर भागीदार न हो सकें।'

मैं चुपचाप सुनती रही थी प्रसन्न की बात और सोचती रही थी कि क्या पुरुष एक ही समय में दो नारियों को पत्नीवत् प्रेम और विश्वास दे सकता है?

—'और जानती हो कि कल शाम डाक्टर से बोलने चालने की अनु-मति मिल जाने पर शान्ति ने नन्दन और जयन्ती की बात करने के अलावा सबसे पहला प्रश्न मुझसे क्या पूछा था?' प्रसन्न ने अपनी बात जारी रखते हुए पूछा था मुझसे।

और फिर बिना मेरे हूँ करने की प्रतीक्षा किये बात पूरी कर दी थी अपनी।

'पूछा था कि क्या मेरे विश्वास पर अब विश्वास नहीं रहा तुम्हारा ?'

'सच ? यही पूछा था उन्होंने ?' मेरे मुँह से निकल पड़ा था।

'हाँ, यही पूछा था और कहा था कि अपने प्रति मेरे विश्वास को, मेरे प्रेम को इतना ओछा और इतना संकुचित कब से मान लिया तुमने ?'

'तब क्या कहा तुमने ?'

प्रश्न तो कर दिया था मैंने मगर मुँह से यह शब्द निकलते ही बहुत पछताई थी मैं।

मगर प्रश्न का उत्तर देने में प्रसन्न को अधिक असमंजस नहीं हुआ था। एक बार शान्ति बहिन के निद्रामग्न मुख को निहार कर शान्ति बहिन को दिया अपना स्पष्टीकरण रख दिया था मेरे सामने प्रसन्न ने।

'और क्या कहता भला ? सारी बात संक्षेप में बता दी थी उसे। यह भी बता दिया था कि भटक मैं निश्चय ही गया था और अब भी भटका हुआ ही हूँ मगर अब अपनी इस भटकन का समाधान तुम्हारे सहयोग से ही करूँगा, तुमसे कोई बात छुपाकर नहीं। बस तुम जल्दी से अच्छी हो जाओ।'

'भटकन ?'

इस 'भटकन' शब्द को लेकर मैं स्वयं भी उस घड़ी भटकती सी ही रह गई थी अपने अन्तर में कहीं और इससे तभी उबर पाई थी जब भाई जी प्राइवेट वार्ड का आवंटन-आदेश लेकर आये थे वहाँ।

'नन्दन' !

शान्ति बहिन के ओंठों से ही निकली थी वह क्षीण आवाज सुनते ही बेड के किनारे से उठकर उनकी तरफ देखा मैंने।

आँखें फाड़े जैसे अपने दोनों बच्चों को ही तलाश रही हों अपने आस पास।

'नन्दन और जयन्ती दोनों घर पर हैं।........आपकी ईजा भी आ गई हैं अल्मोड़े से अभी थोड़ी देर पहले।...उन्ही के पास हैं बच्चे...' प्रसन्न के घर से आये एक परिचारक ने जो सूचना मुझे दी थी, उसी का उपयोग कर मैंने शान्ति बहिन की चिन्ता शान्त करनी चाही।

'और वो कहाँ हैं ?'

'कौन प्र-प्र......जोशी जी ? वे ग्लूकोज और कुछ और दवायें लेने गये हैं।...वे भी आते ही होंगे।'

'तुम...आप...नहीं...तुम तो दीपा हो न ?'

—हाँ, मैं ही हूँ दीपा, तुम्हारे सुखी जीवन में विष घोलने वाली, —कहना चाहा मैंने मगर उनके पूर्ण सजग नेत्रों से झर रहे तरल स्नेह को देखकर, 'हाँ' कह कर ही जिह्वा पर रोक लगा ली मैंने।

अबोध बालक जैसी पुलक आ गई उनके चेहरे पर मेरा हूँ करा सुनकर।

हाथ बढ़ाकर मेरा हाथ टटोला एक, और आँखों से ही इशारा किया वहीं अपने पास बैठने के लिए।

बड़ा अनुनय सा भरा था उनकी भारी-भारी पलकों के उस मूक आमत्रण में।

मगर मैं खड़ी ही रही, ओठों पर थोड़ी बहुत हँसी बटोरने का प्रयास करती हुई।

'तीन साढ़े तीन साल से भी ऊपर हो गये न ?'

'हूँ'—उनका आशय समझकर एक छोटा सा हूँ करा भरा मैंने।

'नन्दन की साल गिरह पर आई थीं न ?'

मैंने फिर सिर हिलाया धीरे से।

'उसके बाद आई ही नहीं, एक बार भी ? कहीं विदेश चली गई थीं, सुना था।'

'हाँ,—मगर आप बोलें मत ज्यादा।'

'मगर डाक्टर तो कह गये थे सुबह कि......

'हाँ वैसे तो बिलकुल ठीक हैं आप मगर फिर भी ज्यादा तो नहीं बोलना चाहिए। अभी इतनी कमज़ोरी है न?'

'कमजोरी?—हाँ कमजोरी तो है—',कहा शान्ति बहिन ने। और सचमुच ही थोडी क्लान्ति सी उभर आई उनके चेहरे पर।

'आपके लिए मोसम्मी का रस ले आऊँ'—कहकर हल्के से अपना हाथ छुड़ाया मैंने और कमरे के दूसरे सिरे पर रक्खी जाली की अलमारी से दो छिली छिलाई मोसम्मी निकाल लाई।

फ़ागर को दबा-दबाकर रस निकालने लगी तो खुद भी कमजोरी सी अनुभव करने लगी मैं। हाथ रोककर शान्ति बहिन की तरफ देखा तो जैसे कुछ कहना चाह रही हों मुझसे।

'क्यों क्या कुछ चाहिए?'

'नहीं चाहिए कुछ भी नहीं'—थकित स्वर में बोलीं शान्ति बहिन। 'सोच रही थी कि मेरे कारण यह बेकार का झंझट करना पड़ रहा है तुम्हें।'

'मुझे तो बड़ा अच्छा लग रहा है, आपके लिए यह सब करते हुए।'

बात एकदम मन से निकली ही कही थी मैंने। किन्तु कहने के बाद मुझे स्वयं सन्देह होने लगा कि कहीं मात्र—औपचारिकतावश ही तो नहीं निकल गया यह मेरे मुँह से।

शान्ति बहिन ने इसके बाद कुछ नहीं कहा। पूर्ण आश्वस्त भाव से पलकें मूँद लीं उनके ने।

मोसम्मी-रस का प्याला लेकर जब 'बेड' के पास आई तब भी वे आँखें मूँदे रहीं, एक मीठी-मीठी सी मुस्कान ओंठों के कोनों में छुपाये।

एक-एक चम्मच करके, रस उनके मुँह में डालने लगी तब भी उन्होंने आँखें नहीं खोलीं। जैसे परीक्षा ले रही हों मेरी।

ओठों के कोनों में छुपी मुस्कान अब उनकी आँखों के नीचे फैले कलछौंहेपन से खिलवाड़-सी करने लगी थी, जैसे कह रही हो कि इससे अच्छा अवसर और नहीं मिलेगा। मोसम्मी के रस के साथ जो चाहे पिला दो मुझे। हृदय रोगिणी की अचानक मृत्यु पर आश्चर्य भी क्यों होगा किसी को भला ?

तभी कमरे का दरवाजा खुला धीरे से और प्रसन्न के दायें-बायें लगे नन्दन और जयन्ती घुस आये कमरे में, सकपकाये हुए से और उन्हीं के पीछे-पीछे आई एक गौरवर्णा वृद्धा, अपने अर्द्ध अवगुण्ठित मुख पर चिन्ता और वार्धक्य की थकान सी ओढ़े हुए।

शान्ति बहिन के मुख की ओर बढ़ रहा मेरा चम्मच वाला हाथ जहाँ का तहाँ ठिठक गया। रस की दो तीन बूँदें, शान्ति बहिन के कन्धे पर गिर पड़ीं। क्षण भर की सकपकाहट के बाद चम्मच प्याले में डालकर और प्याला लोहे के ऊँचे से स्टूल पर टिकाकर, मैं बेड के किनारे से उठ खड़ी हुई। उठकर प्रसन्न की तरफ देखा तो उनके मुख पर परितोष भरा स्मित देखकर कुछ ढाँढस सा बँधा। वरना उस क्षण स्वयं मुझे यह लग रहा था कि एकान्त और रोगिणी की असहायावस्था का लाभ उठाकर मैं सचमुच ही मोसम्मी-रस में विष मिलाकर शान्ति बहिन की हत्या की योजना को कार्य रूप दे रही हूँ।

तब तक दोनों बच्चे चुपके से माँ के सिरहाने खड़े हो गये आकर और एकटक देखने लगे अपनी माँ के चेहरे को। शान्ति बहिन उस समय भी आँखें मूँदे हुए लेटी थीं चुपचाप, वही स्निग्ध, बालोपम मुस्कान चेहरे पर लिए, और नवागन्तुकों की उपस्थिति से शायद पूर्णतया बेखबर।

'दीदी देखो कौन आया है--?,' बच्चों की उपस्थिति के प्रति सचेत करने की चेष्टा में, अनायास ही निकल पड़ा मेरे मुँह से।

तब तक वृद्धा भी शान्ति बहिन के सिरहाने के पीछे आकर खड़ी हो गईं चुपचाप। *परिचय की आवश्यता ही नहीं थी।*

शान्ति बहिन की 'ईजा' के अलावा और कौन हो सकती हैं भला ये? सोचकर उनके चरण स्पर्श के लिए झुकने को हुई कि उनके हाथ के अवरोध के कारण बीच में ही रुक जाना पड़ा।

तभी--'कौन हो तुम,'—किंचित् रूखे से स्वर में पूछा गया प्रश्न मेरे अन्तर में काटे की तरह चुभ गया।

वाणी—रुद्धता की-सी दशा में मैंने सीधे होकर सहारे के लिए शान्ति बहिन की ओर देखा पहले। उन्होंने आँखें खोल दी थीं और भीगी-भीगी आंखों से वे नन्दन और जयन्ती को देखे जा रही थीं, अपना बांया हाथ उनके चेहरों तक ले जाने की चेष्टा करती हुई। रह-रहकर आंसू उनकी आंखों के कोनों से उनकी नाक पर और गाल पर बह-बह आते थे।

प्रसन्न की तरफ देखा तो वे भी माँ और पुत्र-पुत्री के बीच चल रहे भावो-मेघ के उस अनुपम दृश्य को आंखों ही आंखों में पिये जा रहे थे।

लगा कि उस भरे कमरे में मैं ही एक बाहरी अवांछित व्यक्ति हूँ जिससे पूछा जा रहा है—'कौन हो तुम?'

रुलाई के आवेग के कारण छाती फट पड़ने को हो गई मेरी।

तभी ड्यूटी-नर्स ने पदार्पण किया कमरे में और उसके पीछे-पीछे चले आए हाउस-जॉब पर लगे अस्पताल के नौसिखिया डॉक्टर-एक पुरुष और दो महिलाएँ।

अपमान, ग्लानि और वेदना के आन्तरिक झंझावात से थर-थर *काँपती हुई मैं, आगे कुछ भी सोच-समझ* नहीं पाई और 'अच्छा मैं चलूँ अब', इन चार शब्दों को अस्फुट स्वर में बुदबुदाती हुई, कक्ष के बाहर आ गई।

□□

तेरह

अगले दिन अस्पताल जाने के लिए मेरे मन में क़तई उत्साह नहीं था। सुबह जगने के बाद से ही सोच रही थी कि क्या किसी प्रकार अस्पताल जाने की विवशता से निजात नहीं मिल सकती? स्वयं अपनी बीमारी या उस दिन कालेज जाने की अनिवार्यता या आकाशवाणी केन्द्र पर रेकार्डिंग का पूर्व निर्धारित कार्यक्रम, जैसे अनेक बहाने दिमाग़ में आये किन्तु उनमें से कोई भी कारगर हो पायेगा, इस बारे में ख़ुद मेरा मन आश्वस्त नहीं हो पा रहा था।

वैसे, सच पूछा जाय, तो विवशता जैसी कोई बात मेरे लिए नहीं थी। शायद अपने मन से ही मैंने कल्पना कर ली थी कि शान्ति बहिन की शुश्रूषा तथा उनके स्वास्थ्य लाभ के लिए मेरा उनके पास रहना ज़रूरी है। वरना न तो प्रसन्न ने ही इसके लिए मुझ पर कोई ज़ोर डाला था, न शान्ति बहिन ने ही कोई इसरार किया था और न भाई जी ही इस बारे में आग्रहशील प्रतीत होते थे।...और फिर जब शान्ति बहिन की माता जी आ ही गई थीं देख-भाल के लिए, तब फिर यह मानना कि मेरे बिना शान्ति बहिन की परिचर्या उचित रूप से हो ही नहीं सकती, कदाचित मेरे मन के 'अहम्' का ही फितूर था।

अभी इसी ऊहापोह में थी कि तभी भाई जी चले आये मेरे कमरे में तौलिया कन्धे पर डाले। आते ही बोले, 'अरे अभी तैयार नहीं हुई तू?'

मैंने प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा उनको और तो मुझसे दूसरा प्रश्न कर दिया उन्होंने,—'क्यों? क्या तेरी भाभी ने बताया नहीं तुझे? आई तो थी तेरी तरफ ही।'

'क्या हुआ?' मैंने व्यग्र स्वर में पूछा।

'कोई खास बात नहीं—मगर कल रात क़रीब नौ बजे शान्ति की हालत में थोड़ा 'सैट-बैक' फिर हो गया था और उन्हें 'इन्टेन्सिव केअर-वार्ड' में भी ले जाना पड़ा था।'

'फिर ?' मैंने बेसब्री से पूछा।

'फिर कुछ नहीं। ठीक हो गई थोड़ी ही देर बाद। 'फाल्स अलार्म' ही निकला पिछली बार की तरह शायद गैस की वजह से कुछ बेचैनी-सी हो गई थी उन्हें अचानक। 'जूस' और ग्लूकोज कुछ ज़्यादा ले लिया था, लगता है।'

'मगर मोसम्मी-रस और पानी में ग्लूकोज तो मैंने ही दिया था उन्हें।'

'उसके लिए तुम्हें परेशान होने की ज़रूरत नहीं है।'—भाई जी ने मेरी उद्विग्नता को ताड़ते हुए मुझे आश्वस्त करना चाहा।

क्षण-भर रुककर फिर बोले,—'और उसी रस पिलाने वाली को ही याद कर रही थी शान्ति। कहलवाया है कि दीपा बहिन को ज़रूर भेज देना।'

'तो क्या मुझे आज फिर जाना पड़ेगा वहाँ ?' मैंने भाई जी की ओर देखते हुए पूछा।

'हर्ज ही क्या है जाने में ? प्रसन्न को बड़ा सुकून मिलेगा तुम्हारे वहाँ रहने से। रात भर जागा है बेचारा।'

'तो क्या आप भी वहीं थे सारी रात ?'

'हाँ—क्या करता फिर ? रात नौ के क़रीब क्लीनिक बन्द करके वहाँ का हाल-चाल लेने गया था। वहाँ जाकर मालूम पड़ा कि 'इंटेन्सिव-केअर' में ले गये हैं। सुबह चार बजे उन्हें फिर उनके प्रायवेट वार्ड में पहुँचाकर, तभी लौटना हो पाया।'

'आपको इतना ख्याल है उनका ?' अचकचाये स्वर में प्रश्न कर बैठी मैं।

'ख्याल उनका नहीं तेरा है दीपा',—भाई जी ने बड़े प्यार से कहा। 'अगर आज तू वहाँ न गई और प्रसन्न की बीवी को अब कुछ हो गया तो लोगों को तुझ पर उंगली उठाने का मौका मिल जायेगा कि वही लड़की जो पिछली शाम तक मरीज़ा के पास रही थी, कुछ खिला-पिला गयी उसे, अपना रास्ता साफ करने के लिए।'

'क्या आप भी ऐसा ही समझेंगे भैया ?' भावावेश में बोल उठी मैं।

'मेरे या प्रसन्न के समझने का सवाल नहीं है पगली। दुनिया जो समझेगी उसी की बात कह रहा हूँ'—भाई जी ने कहा और कहकर एक निरर्थक सी हँसी, हँस उठे।

भाई जी की बात पूरी तौर पर गले उतरी नहीं मेरे। इसीलिए खिड़की के बाहर नीचे उतर रही धूप के टुकड़े पर दृष्टि गड़ाये सोचती रही कुछ क्षणों तक कि आखिर मैंने दुनिया वालों का क्या बिगाड़ा है जो शान्ति बहिन की मृत्यु होने की दशा में उनकी मृत्यु का सम्बन्ध सीधे मुझी से जोड़ेंगे, शान्ति बहिन के कक्ष में आने-जाने वाले अन्य किसी व्यक्ति से नहीं।

'तुझे शायद मालूम नहीं दीपा,'—भाई जी ने कुछ क्षण रुककर अपनी बात जारी रखी,—'कि तेरे या कहना चाहिए हमलोगों के किसी 'शुभचिन्तक' ने तेरे और प्रसन्न के उस फोटो का खूब प्रचार-प्रसार किया है—जो उस दिन चाची तुझे दिखा रही थी।'

'क्या और किसी को भी मिला है वह फोटो ?', चकरा कर पूछ बैठी मैं।

'शान्ति को हार्ट-अटैक उसी फोटो को ही तो देखकर हुआ' —भाई जी ने कहा। 'प्रसन्न बता रहे थे कि फोटो मिलने से पहले शान्ति ने इधर-उधर से सुना बहुत कुछ था तुम दोनों के बारे में, मगर विश्वास उसने किसी की बात पर नहीं किया था। मगर अब फोटो में उसने तुम दोनों को किसी होटल के 'लाउन्ज' में शराब का गिलास हाथ में

लिए देखा तो शायद सब्र का बाँध टूट गया उसका और अन्दर ही अन्दर टूटकर रह गई एकदम।'

'मगर वह शराब नहीं थी भाई जी ?'—कातर स्वर मे बिलख उठी मैं।

'मुझे पूरा विश्वास है।'

'एकदम द्राक्षासव जैसा कोई पेय था वह, जो उस काक्टेल पार्टी मे उन सभी कलाकारों को दिया गया था जो शराब नही पीते थे।' मैंने बड़े दृढ स्वर मे कहा।

'मुझे मालूम है दीपा, मगर दुनिया वालों मे से किस-किस की ज़ुबान को रोकेगी तू ऐसा कहने से।'

'क्या इतना जबर्दस्त प्रचार किया गया है इस छोटी सी बात का।'

'लगता तो ऐसा ही है',—भाई जी ने कहा और कहने के साथ-साथ अपने एक हाथ की मुट्ठी में दबा एक कागज मेरे आगे कर दिया यह कहते हुए कि,—'अब देख ले अपने कालेज की प्रिन्सिपल साहबा के इस नोटिस को भी तू। तुझे आज ही मिलने को लिखा है कालेज के मैनेजर से।'

मैंने कागज भाई जी के हाथ मे ही रहने दिया। मरे-मरे से स्वर मे पूछा,—'क्या उन्होने भी फोटो की बात लिखी है।'

'फोटो की बात तो नही लिखी है इस पत्र मे, मगर लगता मुझे यही है कि उन्हे भी तेरे 'शुभचिन्तक' से इसी प्रकार की कोई चीज मिली है।'

तो फिर आज कालेज भी जाना होगा मुझे और उस पापिष्ठ सन्तराम गुप्ता से मिलना होगा।'

'सन्तराम गुप्ता तो शायद तेरे मैनेजर संकटा प्रसाद का दामाद है न ?' भाई जी ने पूछा।

'हाँ वह मैनेजर का दामाद भी है और कालेज का वास्तविक मैनेजर भी।'

'तू चिन्ता मत कर। पहले तू अस्पताल चलना मेरे साथ थोडी देर के लिए और उसके बाद जाना अपने इस मैनेजर से मिलने के लिए। आजकल अपने दोनों के ही सितारे गर्दिश में लगते हैं, मगर इनसे मोर्चा तो हमी को लेना है' कहकर भाई जी हल्के से मुस्करा कर तौलिया संभालते हुए, बाहर चलने को हुए कि तभी 'टीपू मास्टर' दीख गये उन्हें दरवाजे के पास।

टीपू को देखते ही भाई जी एकदम पूरे फार्म में आ गये हों जैसे। बच्चों की तरह चिल्ला उठे—'अर्—रे—टुम किधर से नमूदार हो गया टीपू मास्टर?'

टीपू महाशय हस्बे मामूल एक कापी बग़ल में दबाए हुए थे और दूसरे हाथ में चाकलेट दाबे थे आधे से ज्यादा खाया हुआ। मुंह के दोनो किनारों से लार बह रही थी चाकलेटी रंग में रगी हुई। चाकलेट का एक टुकडा और कुतर कर आँखें चमकाते हुए दूर से ही बोले—'जौहू मामा ने दी थी चाकलेत हमें। आपको चाकलेत नईं देंगे अम।'

'अरे भई, ऐसा क्या कसूर हो गया हमसे?'—कहते हुए भाई जी ने पास आकर टीपू को गोद में उठा लिया बडे प्यार से। सने हुए गालों की पप्पी लेकर लड़याते हुए पूछा,—'अपने ताऊ जी से क्यों गुस्सा हो टीपू भाई?'

'अम नईं, पापा गुच्छा ऐं आप छे। केते ऐं ताऊ अच्छा नईं ऐ, उच्छे मत बोला कलो।'

'अरे वाह यह नई सीख कब दे डाली तुम्हारे पापा ने तुम्हें। अभी तो तुम्हारे पापा सोकर भी नहीं उठे होंगे।'—कहते हुए भाई जी ने मेरी ओर भी देखा एक अर्थ भरी मुस्कराहट के साथ।

'कल कहा था—लात को—जब मम्मी को माला था एछ-ऐछे'—

कहकर टीपू मास्टर ने एक हल्का सा चपत भाई जी के गाल पर जड़ दिया।

इस पर ठठाकर हस पड़े भाई जी और तौलिये से टीपू का मुँह पोंछ कर, टीपू के खुबानी जैसे गाल पर एक पप्पी और जड़ दी। बोले— 'फिर तुमने बचाया नहीं अपनी मम्मी को ?'

'मम्मी खूब लोई...'

'और तुम ?'

'अम-बी लोए'

'अरे तुम जैसा बहादुर लड़का भी रोता है कहीं ?— कहते हुए भाई जी टीपू को गोद में लिए-लिए ही मेरे बिस्तर पर बैठ गये। मुझसे पूछने लगे,—'मगर ये लोग तो उन्नाव गये थे परसों—फिर लौटे कब ? —और तुमने क्या कुछ नहीं सुना—इतनी मारपीट और चीखना चिल्लाना हुआ घर में ?'

'अम तो कल छामई आ गए थे छुक-छुक गाली छे—अम औल मम्मी',—टीपू ने भाई जी के एक प्रश्न का उत्तर तो स्वयं ही दे दिया।

मैंने भी बताया उन्हें कि मैं तो अस्पताल से आठ बजे के क़रीब घर लौटी थी और भाभी के कहने पर एक गिलास दूध पीकर और थोड़ा सा दलिया खाकर सो गई थी अपने कमरे में आकर।

'कमला बन्द कल के माला था मम्मी को "दन्दे छे, नंदा कल दिया था मालते-मालतें',—कहकर टीपू बड़ी गम्भीर मुद्रा बनाकर, देखने लगा भाई जी के चेहरे की तरफ अपनी बड़ी-बड़ी मासूम आँखों से।

'अरे राम-राम',—भाई जी के मुँह से निकला बड़े हिकारत भरे स्वर में।

'अले लाम-लाम',—लगभग इसी स्वर में टीपू ने भी दोहराये वही शब्द।

सुनकर मुझे हँसी आ गई थोड़ी मगर भाई जी की मुख भंगिमा नहीं बदली।

खिन्न स्वर में पूछा उन्होंने—'अब क्या कर रहा है तुम्हारा पापा ?'

'गुलाब पी रहे हैं'—कहकर टीपू ने भाई जी की गोद से नीचे उतर कर, आँखें चढ़ाकर, बोतल से शराब पीने का अभिनय कर दिखाया।

भाई जी ने चार-पाँच साल के बालक का ऐसा लाजवाब 'ऐक्टिंग' देखकर, आँखें फाड़ दीं आश्चर्य से। पूछा—'और तुम्हारी मम्मी क्या कर रही है ?'

'मम्मी ने चाय बनाई थी—मगर पापा ने चाय का प्याला दे मारा जमीन पर। मम्मी फिर रो पड़ी।'

'च्-च्-च्-च'—निकल पड़ा भाई जी के मुँह से।

अभिनय पटु टीपू ने भी ताऊ जी की नकल करते हुए वही आवाज निकालनी चाही। मगर तभी उसे जैसे कोई नई बात याद आ गई हो, वह रुक गया बीच में ही और बगल में दबी कापी हाथ में लेकर उसके पन्ने लौटने लगा चाकलेट सने हाथ से।

भाई जी उसकी इस नई चेष्टा को देखते रहे कौतूहल भरी दृष्टि से। फिर पूछ बैठे,—'क्या ए० बी० सी० डी० लिखकर लाये हो दिखाने ?'

'नहीं, मम्मी ने लिखा ऐ—कहा ऐ ताऊ जी को दिखाना।'

और भी अधिक उत्सुक होकर भाई जी ने कापी अपने हाथ में ले ली। पहला पृष्ठ खोलते ही उनकी दृष्टि जड़ हो गई।

'क्या इन्दु ने लिखा है कुछ', मैंने पूछा।

'हाँ'।

'क्या लिखा है' ?

'लिखा है : 'कल रात से ही दो सौ रुपये माँग रहे हैं मुझसे मुन्सिफी परीक्षा का फार्म भरने के लिए। मेरे पास तीस रुपये थे, बीतू भैया के दिये हुए, वही दे दिये। तीनों नोट फाड़ कर फेंक दिये और तभी से सता रहे हैं मुझे। अब मैं क्या करूं ?'

सुनकर एक गहरी निःश्वास निकल पडी मेरे मुँह से। भाई जी अपनी नजर उसी सम्बोधन हीन पत्र पर गढाये रहे।

टीपू चुपचाप खड़ा गम्भीर भाव से हम दोनों को देखता रहा।

तभी भाई जी चिहुँके। पूछा,-'दीपा, एक पर्चा और भी दिया था न मैंने कल सुबह तुझे मन्दिर के पास।...उसका क्या हुआ ?'

'हाय राम मैं तो एकदम भूल ही गई थी उस पर्चे के बारे में।... आपने घर जाकर पढ़ने को कहा था न ? मगर कल की भाग-दौड में ध्यान ही नहीं रहा उसका',—कहते हुए मैं उठ खडी हुई बिस्तर से और मेज पर से पर्स उठा कर भाई जी का दिया कागज निकालकर उनके हाथ में दे दिया।

'तू ही पढ़', कह कर भाई जी ने पर्चा मुझे वापस कर दिया।

मैंने पर्चा खोला तो उसमे इन्दु की मोती जड़ी लिखावट आ गई आँखों के सामने। सम्बोधन यहाँ भी नहीं था कोई, लिखा था : 'इस घर को नरक मे जाने से बचा लें किसी तरह। आप ही बचा सकते हैं।'

सुनकर भाई जी की आँखें सिकुड गईं थोड़ी और वे सोच में डूब गये कुछ क्षणों के लिए।

सोच से उबरे तो पर्चा मेरे हाथ से लेकर पढ़ा। आँखें थोड़ी और संकुचित हो गईं उनकी, मुँह से निकला,—'क्या मतलब हुआ इसका ?... तीन दिन से इस पहेली को बूझने की कोशिश कर रहा हूँ...मग...र'

'शायद गंगाधर द्वारा उस पर किये जा रहे अत्याचारों की ही ओर इशारा हो,' मैंने अटकल लगाते हुए कहा।

'ऊँ—हुँ'—

इस नकारात्मक हुँकार के साथ भाई जी उठ खड़े हुए और टीपू को फिर गोद में उठा लिया उन्होने। दरवाजे की ओर बढ़ते-बढ़ते बोले,— 'दीपा तू अकेली ही चली जा अस्पताल; मुझे कुछ देर लगेगी यहाँ।'

भाई जी का स्वर इतना वज्र-गम्भीर था कि मैं जड हो गई जहाँ की तहाँ। भाई जी टीपू को लेकर कमरे के बाहर हो गये।

□□

चौदह

मरा-मरा सा मन लिए साढ़े आठ के करीब अस्पताल पहुँची तो वहाँ एक दूसरा ही दृश्य नजर आया। अस्पताल के चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों का एक बड़ा हुजूम गेट पर जमा था और वहाँ चल रही तैयारियों से लग रहा था कि ये लोग या तो धरना देने की तैयारी में हैं या शायद जलूस वलूस निकालने जा रहे हैं। अस्पताल के प्रांगण में भी कर्मचारीगण छोटे-छोटे समूहों में इधर-उधर छितरे हुए थे। पुलिस वाले भी थे अच्छी खासी संख्या में वहाँ पर एक पुलिस उप-अधीक्षक के नेतृत्व में। पूरे वातावरण में बेचैनी भरी उत्तेजना व्याप्त थी। प्रवेश-काउन्टर के पास खड़े एक कान्स्टेबुल से इस हलचल का कारण पूछा तो संक्षिप्त सा उत्तर मिला—'हड़ताल है।'

कारण पूछने पर कान्स्टेबुल महोदय ने बीड़ी का धुआँ नाक और मुँह से एक साथ निकालने की कला का प्रदर्शन करते हुए मेरी ओर ऐसे देखा जैसे मैं अपने आप में एक अजूबा होऊँ। कोई उत्तर देने की आवश्यकता नहीं समझी उन्होंने।

वहाँ से चलकर प्राइवेट वार्ड की तरफ पहुँची तो देखा कि नर्सों में भी गुप-चुप कुछ कानाफूसी सी चल रही है।

—कहीं ये नर्सें भी तो हड़ताल पर जाने की बात नहीं सोच रही हैं—सोचकर मन आशंकित हो उठा मेरा।

—फिर शान्ति बहिन का काम कैसे चलेगा? दवा-इन्जेक्शन कौन देगा उन्हें? प्रसन्न इस नई विपदा का सामना कैसे करेंगे?—

—और मैं ही पहले से भी अधिक परेशान प्रसन्न का सामना कैसे करूँगी भला?—

—फिर अकेले प्रसन्न ही क्यों, शान्ति बहिन की माँ का भी तो सामना करना होगा मुझे।—और शायद अबतक शान्ति बहिन की छोटी बहिन भी आ गई हो दिल्ली से। उनकी भी वेरुखी भरी दृष्टि और 'कौन हो तुम' जैसे कटु वचनों को झेलना होगा मुझे।—

सोचकर डरती-डरती सी पहुँची थी, प्राइवेट कक्ष नम्बर पाँच के द्वार तक मैं, तभी कक्ष का दरवाजा खुला एकाएक और एक नारी-मूर्ति आ गई सामने।

'आइये-आइये दीपा जी, सुबह से ही इन्तजार हो रहा है आपका तो।'

बिना किसी पूर्व-परिचय के, जिस आत्मीयता भरे स्वर में स्वागत हुआ मेरा, उसी से मैं समझ गई कि दरवाजे के बीच खड़ी महिला और कोई नहीं, शान्ति की बहिन ही हो सकती है।

तीस के पास पहुँच रही उम्र, रुखे-रुखे से रेशमी बाल, प्रसाधन-हीन आकर्षक मुख-छवि, भरी-भरी किन्तु लम्बोतरी देहयष्टि,-कुल मिलाकर अच्छा खासा प्रभावी-व्यक्तित्व।

अभिवादन में हाथ अनायास ही उठ गये मेरे।

'यह लीजिए, नमस्कार भी पहले आपही को करना पड़ गया। -ठीक ही तो कहते हैं जीजा जी बुद्धू मुझे। और रही सही बुद्धि इस दीदी की बच्ची ने हर ली मेरी। अपनी बीमारी का तार भेजकर। बताइये 'हार्ट' की भी कोई बीमारी होती है भला?'

अन्तिम वाक्य कहते हुए एक सलोनी सी मुस्कराहट आ गई उनके ओंठों पर और वे दरवाजे के एक तरफ हो गईं मुझे अन्दर जाने का रास्ता देने के लिए।

दरवाजे में ही ठिठक कर एक खोजी दृष्टि अन्दर डाली मैंने तो वह बीच में ही पकड़ी गई शान्ति बहिन की खिली खिली सी नजर द्वारा। वे दरवाजे की ही ओर टकटकी लगाये थीं, धीमी सी कौतुक भरी हँसी हँसती हुई।

अपूर्व काया-कल्प सा हो गया लगता था उनका एक ही रात में। एकदम स्वस्थ और सहज दीख रही थीं वे। रात के उग्र तथाकथित 'सेट-बैक' का कहीं नाम निशान भी नही था चेहरे पर। देखकर मन स्वस्ति-भावना से भर गया मेरा।

उन्हे प्रणाम करने जा रही थी कि तभी स्वागत कर्त्री महिला का स्वर फिर किलक उठा,—'हाय दीदी यह तो चाय भी लाई दीखती हैं,—पूरा थर्मस भर के।'

शान्ति बहिन को प्रणाम करके, मैंने कन्धे से लटका थर्मस उतार कर उनकी बहिन की ओर बढ़ा दिया।

थर्मस उन्होंने मेरे हाथ से ऐसे झपटा जैसे उसके लिए कुछ और लोग भी होड़ लगाये बैठे हों वहां।

'हाय,—इसी के लिए तो मरी जा रही थी सुबह से मैं। इस दीदी की मुट्टो बीमारी के मारे न तो सुबह गाड़ी से उतर कर स्टेशन पर ही चाय पी मिली और न घर पर ही। बस घर में सामान पटक कर कार्टे-रिक्शा किये भागी-भागी चली आई यहां, तो देखें क्या कि प्रसन्न [illegible] से मुहब्बत की बातें हो रही हैं मीठी मीठी।'

बोलते बोलते ही उन्होंने थर्मस खोलकर उसके [illegible] पूरा भर लिया चाय से अपने लिए।

चाय। आपने अपने हाथों से बनाई है न ?—मगर आप बीच में ही क्यों अटक गईं—आओ यहाँ दीदी के पास बैठो आकर; ईशा यहाँ नहीं है,—घर पर ही हैं। लो एक प्याला चाय तुम्हारे लिए भी बनाए देती हूँ। दीदी ने तो मोसमी का रस लिया है अभी।'

'वाह-दो मिनट की जान पहचान में ही आपसे तुम पर उतर आई ! अजीब सिरफिरी लड़की है,'—शान्ति बहिन ने टोका स्नेह से।

'देखो दीदी मैं तुम पर उतरूँ या तू पर, तुम चुपचाप लेटी रहो। तुम्हारे लिए ज्यादा बोलना मना है।—हाँ, चाय पी लेना तुम भी। मगर पहले मैं और दीपा पी लें, उसके बाद पिलाऊँगी तुम्हें।'

कहने के साथ मीरा उठ बैठी और जाली के 'कवर्ड' में से एक प्याला निकाल कर धो लाई। फिर थर्मस से चाय उड़ेल कर मेरे सामने कर दी कहते हुए कि देखो इसके लिए थैंक्यू-वैंक्यू मत कहना और न ही आप कहना मेरे लिए। मुझसे ही ग़लती हो गई जो शुरू में 'फार्मलिटी' कर बैठी तुम्हें 'आप' कहने की।'

मीरा की बातें सुनकर जैसे एक बड़ा बोझ मेरे दिमाग से उतर गया हो। कृतज्ञ नेत्रों से उसकी ओर देखते हुए प्याला मैंने अपने हाथ में ले लिया।

'क्यों बढ़िया बनी है न चाय ?'—चाय का अगला घूँट भरते ही मीरा ने प्रश्न दाग दिया और वह भी ऐसे लहजे में जैसे खुद अपनी बनाई चाय के लिए दाद की माँग कर रही हो वह।

चाय वास्तव में मैंने ही अपने 'स्टोव' पर बनाई थी। भाई जी से बात करने के बाद, चाय के लिए भाभी के पास जाने की या महाराजिन से कहने की हिम्मत ही नहीं पड़ी थी मेरी।

'क्यों बताया नहीं चाय कैसी है ?'—मुझे चुप पाकर मीरा ने फिर दोहराया अपना प्रश्न।

'अपनी ही बनाई चीज की तारीफ करना क्या उचित होगा मेरे लिए ?,'—मैंने मुस्करा कर पूछा ।

'क्यों नहीं होगा ?'—मीरा तपाक से बोली । 'मेरा पाला तो दीदी ने ऐसे आदमी से डाला है जिसकी जुबान से प्रशंसा का एक भी शब्द नहीं निकलता अपनी तरफ से, कितनी ही बढ़िया 'डिशेज' क्यों न बनाऊँ ।··· हम तो यार, उनसे जबर्दस्ती अपनी तारीफ करवा लेते हैं, कह कह कर कि 'क्यों बढ़िया बनी है न' ?'

मीरा ने जिस भाव-भंगिमा के साथ यह बात कही थी, उस पर मन ही मन मुग्ध हो गई मैं और मुझे हँसी भी आ गई ज़ोरों से ।

'क्यों ? पसन्द आई न अपनी 'टैक्नीक' ? मिलाओ हाथ इसी बात पर यार । हम दोनों की बहुत बढ़िया पटेगी । अब 'बोर' नहीं होना पड़ेगा यहाँ । कल से तुम अपना वायलिन लाना साथ में । मैं तबले की जगह मेज पर ही संगत करूँगी तुम्हारी । सुनकर दीदी की बची खुची बीमारी भी दो दिन में उड़न छू हो जायेगी ।'

'क्या कहने हैं तेरे तबला-वादन के ?' शान्ति बहिन ने हँसकर चुटकी सी ली बहिन की ।

—'मगर इन्हें कैसे मालूम हो गया कि मैं वायलिन बजाती हूँ !' थाम सम्भ करके जैसे अपने आपसे ही प्रश्न किया हो मैंने ।

'अरे वाह यार, तुम्हारा प्रोग्राम तो हम रेडियो पर दो बार सुन चुके हैं पिछले दो महीने में । हमारे मियाँ तो एकदम बजरबट्टू हो गये तुम्हारी बजाई धुनें सुनकर ही । अब खुदा के लिए, टेलीविजन पर मत दे बैठना अपना कोई प्रोग्राम वरना यह भलामानस तो जोगी बन जायेगा अपनी मीरा को छोड़कर और अलख जगाता फिरेगा तुम्हारे ही नाम की ।'

शान्ति बहिन हँस पड़ीं ज़ोर से मीरा की बात पर, मगर पता नहीं क्यों मेरी हँसी गले में ही फँस कर रह गई, सोचकर कि मीरा की इस बात में कहीं कोई छुपा व्यंग्य तो नहीं है । तब तक मीरा फिर

बोल उठी।

'मेरी किसी बात का ग़लत अर्थ मत लगा बैठना दीपा,—देखो तुम्हें मेरी क़सम है। कल ईजा ने ही पता नहीं तुम्हें क्या कह दिया कि तुम दुःखी होकर यहाँ से चली गईं। दीदी बता रही थी कि तुम्हें कितनी पीड़ा हुई थी ईजा की उस बेढंगी बात पर।'

इतनी देर में पहली बार संजीदा स्वर सुनने को मिला था मीरा का मुझे। उस स्वर को सुनकर ही मेरे मन में उठ रहा धुँध शान्त हो गया। उल्टे फटकारा मैंने अपने आपको कि ऐसी सरल-निश्छल नारी की रस-वार्ता में भी अपराध-बोध से दबा मेरा मन किसी व्यंग्य-विद्रूप का आविष्कार करने के लिए तत्पर था।

स्वच्छ मन से हँसती हुई मैं उठ खड़ी हुई अपना चाय का प्याला कक्ष के पिछले भाग में वाश बेसिन पर रख आने के लिए।

मगर बीच में ही मीरा ने उठकर प्याला मेरे हाथ से ले लिया और जैसे आदेश दे रही हो मुझे, बोली, 'यह तकल्लुफ़ छोड़ो और यहीं दीदी के सामने बैठ कर बताओ कि ईजा की बात का बुरा तो नहीं माना तुमने?'

अवश भाव से बैठ जाना पड़ा वहीं फिर। बैठकर दो क्षण तो देखती रही मीरा को जो मास्टरनी की तरह मेरे ऊपर तैनात खड़ी थी हाथ में रूल की जगह प्याला लिए। शान्ति बहिन की तरफ़ देखा तो वे धीमे-धीमे मुस्कराये जा रही थीं।

उन्हें मुस्कराता देख मैं भी हँस पड़ी बेसाख़्ता मीरा के उस नाटकीय व्यवहार पर। हँसते-हँसते ही कहा मैंने, 'भई, उस वक़्त तो बुरा ज़रूर लगा था थोड़ा—मगर वे बड़ी बूढ़ी हैं……'

'बस-बस-बस,' चिल्ला सी पड़ी मीरा बीच में ही। 'देखा, दीदी, लड़की मन की साफ़ है। मुझे साफ़गोई अच्छी लगती है।'

'अरी वाह री बूढ़ी दादी'—शान्ति बहिन ने हल्के से फिकरा कसा एक।

'और मैं तो फोटो देखकर ही समझ गई थी कि इस लड़की में छल-कपट हो ही नहीं सकता।'

'क्या आपके—तुम्हारे-पास भी पहुँच गया फोटो वह ?' अचकचा कर पूछ बैठी मैं।

'नहीं फोटो पहुँचा तो नहीं मेरे पास मगर ईजा की कृपा से देखने को मिल ही गया। जानती हो सुबह जब स्टेशन से घर पहुँची तो ईजा ने सबसे पहले फोटो ही दिखाया वह और बताया मुझे कि देखो यही लड़की है जो तुम्हारे प्रसन्न जीजा पर डोरे डाल रही है।'

'मीरा'-शान्ति बहिन ने घुड़का बहिन को धीमे कठोर स्वर में।

मगर मैं तो आँखें फाड़े देखती ही रह गई मीरा की तरफ कि यह लड़की मजाक कर रही है या सचमुच ही उसकी माँ ने यह शब्द कहे होंगे मेरे लिए।

'मगर तुम इस कदर 'अपसेट' क्यों हो गई, ईजा की बात पर' ?' मेरी बदहवासी को लक्ष्य कर मीरा बोलती चली गई। 'अरे यार, प्रसन्न जीजा आदमी ही प्यार करने लायक हैं। न जाने कितनी लड़कियाँ मरी-मिटी होंगी उन पर। संगीत की जिस महफ़िल में भी जाते थे, जादू कर आते थे और उसके बाद लग जाती थी पत्रों की झड़ी। प्रशंसा पत्रों से भी ज्यादा संख्या होती थी प्रणय-याचना भरे पत्रों की। शादी के बाद भी ऐसे ही बीसियों पत्र आते थे। दीदी का एक ब्रीफ केस अब भी भरा रक्खा होगा उन पत्रों से। क्यों दीदी है न ?'

'बेशर्म,'—मात्र कहकर शान्ति बहिन ने पीठ सीधी कर ली बिस्तर पर।—मगर उनके चेहरे पर नाराजगी नहीं थी तनिक भी। पति की प्रशंसा सुनकर जो मानसिक सन्तोष हुआ होगा उन्हें वह उनकी आँखों से स्पष्ट झलक रहा था।

'इन्हें बुरा नहीं लगा कभी ?'—मैंने पूछा धीरे से।

'इन्हे बुरा लगने की क्या बात थी उसमें,' कहकर मीरा ने पान मसाले के डिब्बे में से एक चमची भर कर पान-मसाला मुँह में डाल लिया और फिर डिब्बा मेरी तरफ बढ़ा दिया।

मसाला चबाते-चबाते बोली—'अरे किसी में लिखा होता था कि आपको मैंने अपने मन-मन्दिर का देवता मान लिया है, किसी-किसी में तो सीधा शादी का ही 'ऑफर' होता था किसी लखपती करोड़पति की इकलौती लड़की की तरफ से; कई पत्र तो उस जमाने की अभिनेत्रियों और कोठेवालियों तक के आये थे। ठुमरी- गायकी में शागिर्दी करने को तैयार थीं बिचारी—अपना तन-मन-धन अर्पण करके प्रसन्न जीजा के चरणों में।'

मैं न तो विश्वास ही कर पा रही थी मीरा की बात का और न ही अविश्वास। सकते की सी हालत में बैठी, कभी मीरा को और कभी शान्ति बहिन को देखती रही।

'क्यों दीदी, कोई गलत बात तो नहीं कही मैंने ?' मीरा ने बड़ी बहिन से अपनी बात की पुष्टि करानी चाही।

मगर शान्ति बहिन ने मीरा की बात का कोई उत्तर नहीं दिया। निश्चल लेटी, यथापूर्व कमरे की सीलिंग पर कहीं दृष्टि गड़ाये रहीं।

'और एक राज की बात बताऊँ तुम्हें यार।' कहकर मीरा ने शरारत भरी निगाहों से एक बार बहिन की दिशा में देखा और उन्हें उसी प्रकार शान्त, निरुद्विग्न पाकर फिर मेरी ओर मुखातिब हो गई।

'लो तो तुम्हें बताये ही देते हैं, तुम भी क्या याद करोगी कि अस्पताल में मिली थी कोई।''''''बात यह है कि प्रसन्न जीजा पर डोरे डालने की कोशिश तो हमने भी बहुत की थी...'

'हाय राम'

'आया राम—गया राम नहीं यार, तबीअत ही अपनी इस बुरी

तरह से आ गई थी कि हम घर छोड़ने को तैयार थे उनके लिए''......'

'मगर.........'

'मगर-वगर क्या यार उसकी नौबत ही कहाँ आ पाई ! उस पत्नी-व्रती ने तो भूलकर कानी आँख से भी नहीं देखा कभी अपनी तरफ। सारे फन्दे काटकर साफ निकल गया ब्रह्मचारी।'

'यह क्या कह रही हो तुम ?' मन में एक अजीब परेशानी और अस्वस्ति-भाव अनुभव करते हुए कह उठी मैं।

'जो कुछ कह रही हूँ, सच ही कह रही हूँ दीपा रानी।...सारा घर हैरान था मेरे उस पागलपन को लेकर, सिवाय दीदी के।'

'सिवाय दीदी के' ? कहते हुए मेरा स्वर विकृत सा हो गया कुछ।

'हाँ यार, दीदी तो उलटे मुझे अपने सौभाग्य की सहभागिनी बनाने को भी तैयार थी......'

'क्या ऽऽ--?' विकृत स्वर में चिल्ला सी उठी मैं।

'हाँ-हाँ, ऐसी ही है दीदी मेरी यह। खुद अपने ही हाथों अपने घर में आग लगाने को तैयार थी। और कहती क्या थी, मालूम है ?... कहती थी मेरे तो भगवान हैं ये, अगर तुम भी इनके चरणों में अपने श्रद्धा-सुमन चढ़ाना चाहती हो तो इसमें मुझे नाराजगी क्यों होगी भला।—बस इतना ही ध्यान रखना कि मेरे भगवान पर ऐसा एकाधिकार मत कर लेना कि मैं इन्हें देख भी न सकूँ, इनके चरणों में सिर भी न नवा सकूँ।'

हतवाक् होकर देखती रह गई मीरा की ओर दो-चार क्षणों तक। फिर यकायक शान्ति बहिन की तरफ मुड़ी तो देखा कि आँसू बह रहे हैं उनके गालों पर और उनका वक्ष काँप रहा है धीरे-धीरे।

देखकर एक झपाटे में ही मीरा उनके 'बैड' की बगल में पहुँच गई। बड़े प्यार से बहिन के माथे पर और बालों में हाथ फिराते हुए पुकारा 'दीदी' !

शान्ति बहिन ने एक हाथ से आँसू पोंछ लिये अपने। फिर क्षण भर रुककर थरथराते ओंठों से कहा-'घबरा मत तू, मैं बिलकुल ठीक हूँ। मगर तूने अपनी कथा पूरी कर ली ना' कहकर शान्ति बहिन हल्के से मुस्कराई मीरा से सटकर खड़ी मेरी ओर देखकर।

—'हाँ कथा में और क्या रह गया है', बहिन को स्वस्थ पाकर, मीरा जैसे फिर शरारत पर उतर आई हो। कहती चली गई,—'भई अपने भाग्य में तो एक कामर्शियल फर्म के व्यापारी बदे थे—पन्त जी महाराज—सो बिना हाथ पैर मारे ही कोठी-कार-बंगले वाली हो गई। कभी दिल्ली आओगी तो सुनवाऊंगी उनका गाना।'

—'अच्छा, उनकी भी संगीत में रुचि है?'

शान्ति बहिन हंस पड़ी खुलकर मेरे प्रश्न पर।

'ऐसी वैसी रुचि है क्या? इतनी गहरी रुचि है कि आज दस साल से सोते-जागते, उठते-बैठते उनका धनश्री राग का आलाप ही समाप्त होने में नहीं आता।'—बड़े गम्भीर स्वर में कहा मीरा ने।

'धनश्री या धनाश्री—पूरिया धनाश्री?'

'धनाश्री नहीं यार—धनश्री—बोल है, भज कल्दार·····भज कलदार मूढ़मते।'

'लो भई यहाँ तो अब जरूरी दवाएँ मिलने का भी ठिकाना नहीं रहा।'

मीरा द्वारा की गई 'धनश्री' की व्याख्या पर अभी हम लोगों की हंसी रुकी भी नहीं थी कि कक्ष का दरवाजा खुलने की आवाज के साथ ही साथ प्रसन्न की आवाज पड़ी कान में। मुझे भी कक्ष में देखकर क्षण भर को ठिठके प्रसन्न किन्तु तुरन्त ही आगे बढ़ आये पत्नी के बैड के पास। शान्ति बहिन को स्वस्थचित्त पाकर उनके मुख पर छाई उद्विग्नता जैसे पलक झपकते काफी कम हो गई हो।

'क्यों, क्या हुआ?' मीरा ने पूछा।

'दवाओं के गोदाम को ही सील कर दिया है सुबह से डायरेक्टरेट वालों ने दवाइयों की भारी चोरी के कारण। इन्चार्ज डाक्टर और हैड-क्लर्क दोनों सस्पैन्ड कर दिये गये हैं। एक पुलिस स्क्वाड भी आ गया है छानबीन करने को। जब सी० एम० ओ० आयेंगे, तब अपने सामने दवायें निकलवायेंगे। मगर हड़ताल की वजह से उनका भी कोई भरोसा नहीं कि कब आयें और कब दवायें निकलें।'

'यह हड़ताल का क्या चक्कर है?'—मीरा ने आगे पूछा।

—'यहाँ सब चक्कर ही चक्कर है। सुना है किन्हीं विधायक का कोई रिश्तेदार अस्पताल में भरती है। उसके लिए क़ीमती दवायें और टॉनिक नहीं मिल पाये तो उन्होंने हाथ चला दिया वार्ड ब्वाय पर। उसी पर सारे कर्मचारी हड़ताल पर उतारू हैं। नर्सों को अलग शिकायत है, उन्हीं विधायक द्वारा अभद्र व्यवहार किये जाने को।'

प्रसन्न की बात पर शान्ति बहिन का मुँह कुम्हला सा गया कुछ। मीरा ने बहिन की चिन्ता को ताड़ लिया तुरन्त। प्रसन्न की ओर अभिमुख होकर पूछा,—'क्या कोई अच्छा प्रायवेट क्लीनिक नहीं है यहाँ जहाँ कोई अच्छा हार्ट-स्पेशलिस्ट उपलब्ध हो। सुनते हैं कि यहाँ तो हर बड़ा डाक्टर अपने बंगले पर अपनी प्रायवेट क्लीनिक या 'नर्सिंग होम' चलाता है अपनी बीवी-बेटे के नाम से।'

'नर्सिंग होम तो कई हैं और नामी डाक्टरों के हैं लेकिन उनके चार्जेज़.........'

'साढ़े नौ तो बज गये—अब क्या आयेंगे डाक्टर राउन्ड पर। उनके प्रायवेट इलाज में होती दीदी तो पचास दफा आते', कह कर मीरा थर्मस और एक धुला गिलास उठा लाई।

'और जाने से पहले एक गिलास चाय भी पीते जाइये......दीपा बहिन घर से बनाकर लाई हैं।'

प्रसन्न ने एक बार मेरी ओर मुड़कर देखा। क्षणांश के लिए जो आत्मीयता भरी कृतज्ञता का भाव उनकी आँखों में तिर गया उसी से मेरा मन बड़ा हल्का हो गया। आँख के एक कोने में फँसे अश्रु कण को, सबकी आँख बचाकर मैंने हल्के से पोंछ लिया।

आकाशवाणी केन्द्र होकर जब किरन के यहाँ पहुँची तो समय साढ़े बारह से ऊपर हो चुका था।

ग्यारह तो वहीं अस्पताल में ही बज गये थे। यह तो ग़नीमत थी कि भाई जी भी ऐन समय पर वहाँ पहुँच गये थे, वरना शान्ति बहिन को अस्पताल से 'डिस्चार्ज सार्टिफिकेट' दिलवाने में और उन्हें डाक्टर मिश्रा के नर्सिंग होम तक ले जाने के लिए गाड़ी आदि का प्रबन्ध करने में न जाने कितना समय लग जाता। भाई जी की गाड़ी तक खुद अपने पैरों ही चली आई थीं शान्ति बहिन मीरा का और मेरा सहारा लेकर। गाड़ी में बैठने से पहले बड़े आजिज़ी भरे स्वर में अनुरोध किया था शान्ति बहिन ने कि मैं मिश्रा नर्सिंग होम में भी आऊँ ज़रूर और उन्हें अकेला न छोड़ूं। मीरा ने भी अपने ख़ास अन्दाज़ में धमकी सी दी थी कि अगर मैं शाम को उन लोगों के पास नहीं पहुँची तो वो फिर अपने पति का 'धनश्री' राग मुझे नहीं सुनवायेगी और मुझसे हमेशा के लिए 'कुट्टी' कर देगी सो अलग।

नहीं बोले थे कुछ, तो प्रसन्न। मगर उनका मौन भी केवल मुख तक ही सीमित था। उनकी करुणार्द्र दृष्टि जैसे लगातार मुझसे प्रश्न सा कर रही हो कि उनकी इस विपदा की घड़ी में कहीं मैं उनसे विमुख तो नहीं हो जाऊँगी।

और भाई जी? भाई जी तो जैसे मौनव्रत ही धारण किये घर से चले हों। नायजीरिया जाने से पहले जो गुम-सुम और तनाव भरारूप देखा करती थी उनका, वही रूप अपनाये हुए थे। वाचालता का अपना नर्वाचित मुखौटा जैसे उतार कर फेंक दिया हो एकदम। कुछ मिलाकर

उदासी का रंग कुछ ज्यादा गहरा ही दीख रहा था उनके मुख पर। कक्ष मे आकर न उन्होंने शान्ति वहिन का हालचाल ही पूछा था, न मिश्रा नर्सिंग होम में उन्हे ले जाने के बारे में अपनी भली बुरी कोई राय ही प्रकट की थी और न अपने बारे में ही एक भी शब्द बोले थे मुझसे कि आखिर घर पर क्या बात हुई उनकी गंगाधर से, या कि इन्दु द्वारा उठाये गये उस प्रश्न का कि कौन ले जा रहा है उस घर को नर्क में, कुछ समाधान हुआ या नही ? कुछ भी तो नहीं; किसी भी विषय पर एक शब्द भी नही बोले भाई जी। संकेतात्मक रूप में मेरे पूछने पर भी नहीं। बस, प्रसन्न के कहने पर इन्चार्ज डाक्टर से मिलकर 'डिस्चार्ज सार्टिफिकेट' लाकर प्रसन्न को पकड़ा दिया और मिश्रा क्लिनिक के लिए रवाना होने से पहले, मुझे पास बुलाकर मात्र इतना निर्देश भर कर गये कि मैनेजर से मिलने से पहले अपनी प्रिन्सिपल से जरूर मिल लेना।

किरन के घर मैं यही सोचकर आई थी कि उसके सुबह के दोनों 'क्लासेज' निबट गये होंगे और वह खाना खाने घर जरूर आई होगी। मन मे मेरे यही था कि किरन को साथ लेकर ही सन्तराम से मिलने जाऊँगी। सौभाग्य से मेरा अनुमान ठीक ही निकला। किरन के यहाँ पहुँची तो वह खाने की मेज पर बैठने ही जा रही थी। जबर्दस्ती मुझे भी साथ बिठाल लिया। भूख मुझे लगी जरूर थी मगर तभी तक जब तक मैंने भाई जी को नहीं देखा था। भाई जी को उस उदास विषण्ण मुद्रा में देखने के बाद तो मेरी भूख ही क्या, मीरा की जिन्दादिली से उद्भूत मन की सारी स्फूर्ति भी गायब हो गई थी। फिर भी जब एक बार खाना शुरु किया तो किरन का साथ देते ही देते में न जाने कितने पजाबी फुलके खा गई चने-लौकी की दाल और बैंगन के भुरते से। हाथ तभी रुका जब किरन ने कटोरदान से आखिरी फुल्का भी निकाल कर आधा-आधा करके डाल दिया दोनों प्लेटों में।

देखकर बड़ी लज्जा लगी अपने आप पर कि ना-ना करते हुए भी

और वस्तुतः खाने की इच्छा न होते हुए भी, शायद किरन की मम्मी के हिस्से का खाना भी उदरस्थ कर लिया था मैंने। संकोच भरे स्वर में पूछ बैठी मैं,—'अब मांजी क्या खायेंगी ?'

सुनकर हंस पड़ी किरन। कहा,—'उनकी चिन्ता मत करो दीदी तुम। वो आज 'क्लार्क' में लन्च लेंगी।'

—'क्लार्क ? यानी क्लार्क-अवध ? वह पंच सितारा होटल ? मगर वह किस खुशी में ?'—आश्चर्य-चकित भाव से पूछना पड़ गया मुझे।

'लाला सन्तराम की कृपा से अध्यक्ष हो गई हैं वे, लखनऊ नारी निकेतन की।' किरन की हंसी अभी भी रुकने का नाम नहीं ले रही थी।

'वही नारी निकेतन, जहां की किसी लड़की की लाश गोमती के किनारे मिली थी कहीं, दो तीन दिन पहले ?'

'हां वही नारी निकेतन……'

'और जहां की संचालिका पकड़ी गई है, उस लड़की की हत्या के आरोप में ?' मैंने पूछा। 'शायद परसों के अखबार में ही तो था यह समाचार।'

'हां, वही।'

'मगर उससे सन्तराम का क्या सम्बन्ध ?' मैंने आगे जिज्ञासा की।

'क्यों! उसके असली संचालक तो वही या उन्हीं जैसे कुछ और समाज-सुधारक और सुधारिकाएं हैं। नारी कल्याण समिति का नाम नहीं सुना तुमने ?' किरन के स्वर में कहीं बड़ा पैना व्यंग्य छिपा था।

'उसी कल्याण समिति के सर्वेसर्वा हैं एक प्रकार से हमारे सन्त जी।' किरन कहती गई आगे। 'उसी की कागजी अध्यक्षा एक मन्त्राणी महोदया हैं जिन्हें अपने राजनीतिक जंजालों से ही कभी फुरसत नहीं मिलती और उसकी उपाध्यक्ष है मिसेज गुप्ता।'

'कौन मिसेज गुप्ता ?'

'हमारे सन्तराम जी की सन्तिनी यानी श्रीमती पुष्पा गुप्ता।'

'हाय, वो तो वास्तव में सन्तिनी ही बताई जाती हैं। मधु कह रही थी कि अगर डैडी मम्मी से दिन भर एक टांग पर खड़े रहने को कहे तो पति का आदेश पालन करने में तनिक भी पशोपेश नहीं करेंगी वे, भले ही बेहोश होकर गिर जायें।'

'मधु ठीक ही कह रही थी दीदी', किरन ने तिक्त हंसी हंसते हुए कहा। 'और इसीलिए तो हमारे सन्त जी उस नारी कल्याण समिति के सूत्रधार हैं असली। और क्योंकि नारी-निकेतन इसी कल्याण-समिति की छत्रछाया में चलता है, इसलिए उसके भी असली मानी में संचालक वही हैं। कागज पर नाम मिसेज गुप्ता का रहता है, परदे के पीछे से पुतलियों को नचाने वाले सन्त जी होते हैं।'

'तब तो हुआ बेड़ा गर्क उस कल्याण समिति का भी और उस नारी निकेतन का भी', मैं कह उठी।

मेरी बात सुनकर हंस पड़ी किरन जोरों से। बोली,—'बेड़ा गर्क कोई नया तो नहीं हो रहा। इस देश में है कौन सा बेड़ा जिसके कर्णधारों में सन्तराम जैसे पहुँचे हुए सन्त और मेरी मम्मी जैसी समाज-सेविनी न हों।'

'तेरी मम्मी तो ऐसी नहीं लगती किरन।' मैंने कहा, गले में आई 'फांस' को थूक के साथ निगलते हुए।

'ऊपर से कौन समाज-सेवी खराब लगता है या लगती है दीदी ?' किरन ने कहा उसी विद्रूप भरे स्वर में और साथ ही मेज के बर्तनों को समेट कर इलायची-सौंफ का डिब्बा उठा लाई आलमारी से।

थोड़ी सौंफ खुद फाक कर और थोड़ी मुझे देकर बोली,—'सभ्यता से हमने और सीखा ही क्या है भला ? यही न कि अपने वास्तविक स्वरूप और विकृत भावनाओं को सौम्य और योगी जनोचित मुख-मुद्रा और बकपंखी कपड़ों के नीचे छुपाये नेकनाम बने रहें औरों के सामने,— उन औरों के सामने जिनमें से अधिसंख्य खुद उन्हीं जैसे हैं, श्रीमती

सेन्ट—परफ्यूम और क्रीम-पाउडर से अपने शरीर और विचारों की दुर्गन्ध को अपने ही तक सीमित रखते रहे, पर-हित-चिन्तना के नाम पर दूसरों की स्वायत्तता और सम्पत्ति हड़पते रहे, और शान्ति-सुरक्षा के नाम पर ऐसे अस्त्र शस्त्रों का निर्माण करते रहे जिनके प्रयोग से एक ही दिन में उस मानव का ही निशान मिट जाये इस पृथ्वी से जिसके कल्याण के लिए यह सारा सरंजाम किया जा रहा है।'

किरन मानो एक साधारण से डिग्री कालेज की हिन्दी-प्राध्यापिका न रहकर जीवन-तत्व-द्रष्टा हो गई हो उस घड़ी। कौन इन्कार कर सकता था उसकी इन बातों की सचाई से। कम से कम मैं तो नहीं। दांतों के बीच फंस गये एक सौंफ के दाने को जीभ से कुरेदती रही और देखती रही उसकी ओर।

'और फिर अपनी इन करनियों से अगर कोई अपराध-बोध पैदा हो, इस 'सभ्य' मानव के मन में तो उसे कुचल दे, दबा दे जहां का वहीं धर्म का या नशे का 'एनस्थीशिया' देकर। ढोंग भरी पूजा से लेकर अखण्ड पाठ और कीर्तनों तक और शराब से लेकर एल० एस० डी० तक, न जाने कितने उपाय मोहय्या कर लिए हैं सभ्य बने मानव ने आत्मवंचना के या अन्तःकरण में उठने वाली पाप-पीड़ा से मुक्ति पाने के।'

'मान गये भई, आज तो तुझे। एकदम सन्तवाणी बोल रही है',—हंस कर कहा मैंने। और यह केवल मौखिक प्रशंसामात्र नहीं थी, वस्तुतः रा मन किरन की पीठ ठोकने को हो रहा था।

'तुमने यह बात शायद हंसी में ही कही हो दीदी मगर सचमुच में ही यह सन्त-वाणी है,' किरन बोली आगे। 'यदि सन्तराम के सम्पर्क में न आई होती तो कहां कैसे देखपाती भला जिन्दगी को इस तत्व-चिन्तक दृष्टि से। वैसे अगर सन्त जी के मुख के निकले वचन ही सुनना चाहो तो वह भी सुन लो। यह उद्‌गार सन्तराम के अपने हैं या उस भ्रूव के

'हाय, वो तो वास्तव में सन्तिनी ही बताई जाती है। मधु कह रही थी कि अगर डैडी मम्मी से दिन भर एक टाँग पर खड़े रहने को कहे तो पति का आदेश पालन करने मे तनिक भी पशोपेश नहीं करेंगी वे, भले ही बेहोश होकर गिर जायें।'

'मधु ठीक ही कह रही थी दीदी', किरन ने तिक्त हंसी हंसते हुए कहा। 'और इसीलिए तो हमारे सन्त जी उस नारी कल्याण समिति के सूत्रधार हैं असली। और क्योंकि नारी-निकेतन इसी कल्याण-समिति की छत्रछाया में चलता है, इसलिए उसके भी असली मानी में संचालक वही है। कागज पर नाम मिसेज गुप्ता का रहता है, परदे के पीछे से पुतलियों को नचाने वाले सन्त जी होते हैं।'

'तब तो हुआ बेड़ा गर्क उस कल्याण समिति का भी और उस नारी निकेतन का भी', मैं कह उठी।

मेरी बात सुनकर हस पड़ी किरन जोरों से। बोली,—'बेड़ा गर्क कोई नया तो नही हो रहा। इस देश में है कौन सा बेड़ा जिसके कर्णधारों मे सन्तराम जैसे पहुँचे हुए सन्त और मेरी मम्मी जैसी समाज-सेविनी न हों।'

'तेरी मम्मी तो ऐसी नही लगती किरन।' मैंने कहा, गले मे आई 'फास' को थूक के साथ निगलते हुए।

'ऊपर से कौन समाज-सेवी खराब लगता है या लगती है दीदी?' किरन ने कहा उसी विद्रूप भरे स्वर में और साथ ही मेज के बर्तनों को समेट कर इलायची-सौंफ का डिब्बा उठा लाई आलमारी से।

थोड़ी सौंफ खुद फाक कर और थोड़ी मुझे देकर बोली,—'सभ्यता से हमने और सीखा ही क्या है भला? यही न कि अपने वास्तविक स्वरूप और विकृत भावनाओं को सौम्य और योगी जनोचित मुख-मुद्रा और बकपंखी कपड़ों के नीचे छुपाये नेकनाम बने रहे औरों के सामने,—उन औरो के सामने जिनमे से अधिसख्य खुद उन्हीं जैसे हैं, क़ीमती

सेन्ट—परफ्यूम और क्रीम-पाउडर से अपने शरीर और विचारों की दुर्गन्ध को अपने ही तक सीमित रखते रहे, पर-हित-चिन्तना के नाम पर दूसरों की स्वायत्तता और सम्पत्ति हड़पते रहे, और शान्ति-सुरक्षा के नाम पर ऐसे अस्त्र शस्त्रों का निर्माण करते रहे जिनके प्रयोग से एक ही दिन में उस मानव का ही निशान मिट जाये इस पृथ्वी से जिसके कल्याण के लिए यह सारा सरंजाम किया जा रहा है।'

किरन मानो एक साधारण से डिग्री कालेज की हिन्दी-प्राध्यापिका न रहकर जीवन-तत्व-द्रष्टा हो गई हो उस घड़ी। कौन इन्कार कर सकता था उसकी इन बातों की सचाई से। कम से कम मैं तो नहीं। दाँतों के बीच फंस गये एक सौंफ के दाने को जीभ से कुरेदती रही और देखती रही उसकी ओर।

'और फिर अपनी इन करनियों से अगर कोई अपराध-बोध पैदा हो, इस 'सभ्य' मानव के मन में तो उसे कुचल दे, दबा दे जहाँ का वहाँ धर्म का या नशे का 'एनस्थीशिया' देकर। ढोंग भरी पूजा से लेकर अखण्ड पाठ और कीर्तनों तक और शराब से लेकर एल० एस० डी० तक, न जाने कितने उपाय मोहप्या कर लिए हैं सभ्य बने मानव ने आत्मवंचना के या अन्तःकरण में उठने वाली पाप-पीड़ा से मुक्ति पाने के।'

'मान गये भई, आज तो तुम्हे। एकदम सन्तवाणी बोल रही है',—हंस कर कहा मैंने। और यह केवल मौखिक प्रशंसामात्र नहीं थी, वस्तुतः मेरा मन किरन की पीठ ठोकने को हो रहा था।

'तुमने यह बात शायद हंसी में ही कही हो दीदी मगर सचमुच में ही यह सन्त-वाणी है,' किरन बोली आगे। 'यदि सन्तराम के सम्पर्क में न आई होती तो कहाँ कैसे देखपाती भला जिन्दगी को इस तत्व-चिन्तक दृष्टि से। वैसे अगर सन्त जी के मुख के निकले वचन ही सुनना चाहो तो वह भी सुन लो। यह उद्गार सन्तराम के अपने हैं या उस भूत के

है जो नशे के रूप में उनके सिर पर चढ़कर बोलता है इसका निर्णय तुम स्वयं करना।'

'क्या हैं उद्‌गार वे ?'—मुझे सचमुच ही रस मिल रहा था उसकी बात में।

'एक दिन मुझे नशा-सेवन के लाभ समझाते हुए बताया था उन्होंने कि इस स्वप्नवत् संसार की वास्तविकता का पता, मनुष्य को तभी चल पाता है, जब वह अपनी सामान्य चेतना से ऊपर उठ जाये। साधारण आँखों से देखने पर इस माया-आवृत्त संसार की सचाई दृष्टिगोचर नहीं होती। माया के आवरण के अन्दर झाँकने के लिए अपनी आँखों पर भी माया का चश्मा लगाना पड़ता है तभी दिव्य दृष्टि मिलती है और वह दिव्य दृष्टि नशे से ही सम्भव है।'

'बात तो पते की कहते लगते हैं सन्त जी',—मैंने कहा।

'दुनियाँ घूमे-फिरे आदमी हैं न सन्त जी ?' किरन ने बात जारी रखी अपनी। 'सत्तर घाट तो बहुत थोड़े हैं उनके लिए। अमरीका-यूरोप में और अपने देश में प्रसिद्ध अप्रसिद्ध आश्रम रूपी दूकानें खोलकर बैठे हुए गेरुआ श्वेत और बासन्ती वस्त्रधारी सभी छोटे-बड़े भगवानों और भगवतियों की संगत कर चुके हैं सन्तजी। और अपने सारे अनुभवों का निचोड़ यही बताते हैं कि संसार में छोटे-बड़े सभी लोग किसी न किसी नशे का आधार लिए जीवित हैं। किसी को कुर्सी का नशा है तो किसी को सत्ता का, किसी को कंचन का तो किसी को कामिनी का, किसी को मर्दानगी का है तो किसी को अपने रूप और जवानी का—बहरहाल सब नशे पर ही जीवित हैं। अन्न से लेकर सेक्स तक सब नशे के भिन्न-भिन्न सोपान हैं समाधि अवस्था में पहुँचने के लिए; जो इन सब से वंचित है, वही दुःखी और नाकारा है इस संसार में।'

'बोल श्री सन्त जी महाराज की जय',—किरन की बात समाप्त होते न होते निकल पड़ा मेरे मुँह से और मैं हँसी के मारे बेहाल हो गई।

किरन ने भी साथ दिया मेरा हँसने में।

पर तभी जैसे कुछ याद आ गया हो किरन को। हँसी पर यकायक 'ब्रेक' लगाकर बोली,—'मगर तुमसे आजकल सख्त नाराज है सन्त जी, दीदी। बता रहे थे कि दो-तीन बार संदेश भिजवा चुके है तुम्हें अपने दरबार में हाजिरी देने के लिए मगर तुम शायद एक बार भी नहीं गईं दर्शनार्थ विदेश से लौटने के बाद।'

सुनकर मेरी हँसी अपने आप ही रुक गई जहाँ की तहाँ।

'मगर मुझे तो आज सुबह से पहले कोई संदेसा या हुक्मनामा नहीं मिला उनका,'—अचरज भरा स्वर निकला मेरा।

'याद करो दीदी—क्या प्रिन्सिपल मिस घोष ने या मधु ने कभी कोई 'मैसेज' नहीं दिया तुम्हें ?'

'अरे हाँ,—मिस घोष ने तो एक दिन एक पर्ची जरूर भिजवायी थी खुद अपने से मिलने के लिए मगर उसी के बाद तो मैं बीमार हो गई थी और तब से कालेज जा ही नहीं पाई तुम्हें तो मालूम है·······'

'और मधु ने कभी नहीं कहा ?' फिर पूछा किरन ने।

'मधु ने ? ?—मगर मधु ने अपने डैडी यानी सन्त जी से मिलने को तो कभी नहीं कहा' ? सोचते हुए कहा मैंने। 'हाँ पिछले महीने खुद वायलिन सीखने की फरमाइश जरूर की थी मुझसे।'

'यही तो सन्त जी चाहते हैं।' कहते-कहते किरन का स्वर फिर कड़वा हो उठा। कहते थे कि वैसे नहीं तो मधु को वायलिन सिखाने के बहाने ही उनके आश्रम में पदार्पण करो तुम। मधु का विषय बदल कर आखिर उसे 'म्यूजिक' दिलाया क्यों है उन्होंने ?'

'क्या बात करती हो किरन तुम ?'—कुछ तैश में आकर बोल पड़ी मैं। फिर स्वर को थोड़ा कोमल बनाते हुए कहा,—'मधु जैसी लिलन्दड़ी लड़की क्या कभी म्यूजिक सीख सकती है—'वोकल' या 'इन्सट्रूमैन्टल' कैसा भी ?'

'मगर सन्त जी तो कहते है कि अगर तुम मधु को संगीत सिखाने घर पर नही आओगी तो छुट्टी कर देंगे तुम्हारी कालेज से ही। जोशी जी के साथ वाला फोटो उन्हे भी मिल गया है कहीं से।' किरन ने अपने स्वर को यथा साध्य सहज रखते हुए कहा।

किरन की इस बात पर मैं सोच मे पड़ गई कुछ क्षणो के लिए। सोच तभी टूटा जब किरन ने पूछा,—'किस सोच में पड़ गई दीदी ?'

'सोच रही थी कि इससे पहले सन्त जी मेरी छुट्टी करें कालेज से, मैं ही क्यो न छुट्टी कर दूँ उनकी यानी इस्तीफा भेज दूँ अपना। बहर-हाल देर-सवेर यही तो होना है', मैंने किरन को समझाना चाहा।

'मगर यह तो मैदान छोड़कर भागना होगा दीदी।' किरन ने कहा। 'मैं तो उचित नही समझती ऐसी पलायनवादी प्रवृत्ति को। और फिर तुमने ऐसा अपराध ही कौन सा किया है जो······'

'अविवाहिता होकर भी मैं एक बच्चे की माँ बनने जा रही हूँ, यह क्या कम अपराध है, आज के हिन्दू समाज की निगाहों मे ?'

'मगर तुम तो कह रही थीं दीदी कि जोशी जी तुमसे विवाह करने को तैयार हैं ?'

'नहीं किरन, यह अब नही होगा। प्रसन्न के चाहने पर भी नही।' किरन की जिज्ञासा पर पूर्ण विराम लगाते हुए कहा मैंने। 'चोरी बहुत कर ली, मगर शान्ति बहिन के सौभाग्य पर डाका डालने की न तो मेरी रंच मात्र भी इच्छा है और न उत्साह।

'फिर इस बच्चे का क्या होगा ?'

'इसे मैं पालूँगी, बड़ा करूँगी, एक अच्छा इन्सान बनाने की कोशिश करूँगी, लखनऊ से दूर रहकर, जहाँ यह सन्त जी के लिए और नैतिकता के दूसरे ठेकेदारो के लिए किसी असमंजस का कारण न बने।'

'मगर यह पिता किसे कहेगा अपना ?'

'पिता न सही, अपनी माँ का नाम तो बता सकेगा पूछने वालों

को—उसी माँ का जो उसे जन्म देती है, अपने खून से पालती है, अपनी छाती के दूध से पुष्ट करती है और उसे संस्कार देकर तब इन्सान बनाती है। यह क्या कम है, एक इन्सान को अपनी अस्मिता सिद्ध करने के लिए, इस संसार में',—मैं भावावेश में बोलती चली गई।

किरन मेरा चेहरा देखती रही चुपचाप।

'तो यही तय रहा न ?'—मैंने ही आगे कहा। 'अब मैं तुम्हारे सन्त जी के दर्शनार्थ नहीं जाऊँगी। और अब मिस घोष के पास भी जाना बेकार ही है। कल ही मैं तुझे अपना त्यागपत्र भिजवा दूँगी या खुद दे जाऊँगी, तू उसे सन्त जी के हाथों तक पहुँचा देना। इतना तो कर सकेगी न, तू मेरे लिए—अपनी बहिन के लिए ?'

'मगर यहाँ से जाओगी कहाँ तुम दीदी',— किरन ने पूछा।

'यह अभी तय नहीं है। मगर जहाँ भी जाऊँगी,तुझे बताकर जाऊँगी' —कहकर मैं उठ खड़ी हुई और इससे पहले कि किरन आगे कोई प्रश्न करे, तेजी से सीढ़ियाँ उतर कर नीचे आ गई।

□□

सोलह

किरन की गली से निकलकर मुख्य सड़क पर पहुँची तो कोई रिक्शा या आटोरिक्शा नहीं दीखा आस-पास में। पैदल ही चौराहे की तरफ बढ़ चलूं, इसके सिवाय कोई चारा नहीं था। मगर अभी दो कदम ही चली थी, कि एक मोटी सी बूंद गिरी माथे पर। ऊपर की ओर निगाह की तो देखा कि अभी थोड़ी देर पहले तक छितराये-छितराये से बादल आकाश की पूरी छाती पर छा गये हैं एक छोर से दूसरे छोर तक। अपराह्न में तीन बजे ही ऐसा लगने लगा जैसे शाम हो गई हो। देखकर न जाने क्यों कुछ भला सा ही लगा मन को। मन में हुआ कि खूब बरसे पानी, ऐसा बरसे जैसा आज तक कभी न बरसा हो, सड़कें पानी-पानी हो जायें, गोमती की धार और सारा शहर लखनऊ एक हो जाय.......। तब तक चार छः बूंदें और आ गिरीं मेरे सिर पर, कनपटी पर और पेशानी पर। घबरा कर फिर उसी पेड़ के नीचे जा खड़ी हुई जिसके नीचे किरण की गली से निकल कर रिक्शे की खोज में खड़ी हुई थी। पेड़ के नीचे आने पर जब बूंदों से त्राण मिला तो यह सोचकर हँसी आ गई कि अभी तो मन पूरे लखनऊ को वर्षा के सैलाब में डुबाने पर तुला हुआ था-और जहां चार बूंदें पड़ीं, वहीं भाग खड़ा हुआ मोर्चा छोड़कर।..........देखते-देखते बूंदें कुछ और तेज हो गई और पता नहीं क्यों, सोचने लगी मैं कि कैसे बहादुर और दृढ़ निश्चयी होते होंगे वे लोग जो एक बार आत्म हत्या का इरादा करने पर उसे उसकी अन्तिम परिणति तक पहुँचा देते हैं—पानी में डूबकर, अग्नि में जलकर, विष खाकर या ट्रेन से कटकर ?

'क्या मैं भी ऐसा कर सकती हूँ ?'

विचार मात्र से ही सिहर कर रह गई मैं।

एक बार को सिहर उठी गई मैं किन्तु पिछले आधे घंटे से अवसाद की जो गहन परतें, तन-मन को कठोर पाश में जकड़ती जा रही थीं, वे जैसे विवश कर रही हों मन को आत्म हत्या के बारे में सोचने के लिए। ठीक वैसे ही जैसे दक्षिणी नायजीरिया के त्रिवर्षीय प्रवास काल में गिनी की खाड़ी की गोद में बसे 'लागोस' की घनी अँधियारी बरसाती रातें बाध्य कर देती थीं मुझे अपने निरर्थक जीवन की इतिश्री करने के संबंध में सोचने के लिए। और बात ठीक भी थी। मुझसे भी अधिक निरर्थक अस्तित्व और किसका हो सकता था ? एक-एक करके सभी रास्ते तो बंद होते जा रहे थे मेरे लिए। बन्द होते क्या जा रहे थे, बन्द हो ही चुके थे, एक तरह से। माता-पिता के न होते हुए, भाई के घर को मैं कब तक अपना घर कह सकती थी ? जिसे अपना तन और मन समर्पित किया था, वह उसका प्रतिदान करने की स्थिति में नहीं था। उसे लेकर एक अलग नीड़ बसाने की बात, एक सुखद कल्पना मात्र होकर ही रह गई थी। घर बसने से पहले ही उजड़ गया था। ऊपर से एक अवांछित दायित्व और कोख में आ गया था। और आज उस दायित्व का वहन करने का अन्तिम साधन यानी कालेज की नौकरी भी हाथ से जाती दीख रही थी। फिर भला मुझसे अधिक सुपात्र और कौन हो सकता था स्वयं अपने हाथों अपनी निरर्थक जीवन यात्रा को समाप्त करने के लिए ?

वर्षा का वेग जब कुछ और बढ़ा और पेड़ के पत्तों के बीच से होकर बूँदें झरने लगीं मेरे ऊपर तो अपने चिन्तन लोक से फिर नीचे उतर आई मैं, और रिक्शे की तलाश में फिर दृष्टि दौड़ाने लगी इधर-उधर। मगर रिक्शे या तो थे ही नहीं सड़क पर उस समय और यदि इक्के-दुक्के निकल भी रहे थे तो या तो भरे हुए और या फिर अपने किसी शरणास्थल या गन्तव्य की ओर भागते हुए। किसी रिक्शे वाले को इतनी भी फुर्सत नहीं थी कि मेरी बात को सुनता या मेरी पुकार पर कोई उत्तर भी देता। वर्षा से बचने के लिए मैं पेड़ के पीछे, तने से थोड़ा और सट गई। मगर

जब तेज बरसाती हवा ने वहाँ भी पीछा नहीं छोड़ा तो सोचा कि वापस किरण के घर में ही जाकर शरण लूँ। भले ही उसके घर तक का दो फर्लांग का रास्ता तय करते-करते भीग जाऊँ बिलकुल मगर उससे एक सूखी साड़ी तो मिल ही जायेगी पहनने को।...मगर इससे पहले कि कदम उठाऊँ उस दिशा में, एक एम्बेसडर कार गली के मोड़ के पास आकर कुछ धीमी हुई और फिर पानी के छींटे उड़ाती हुई गली में मुड़ गई। गाड़ी की पिछली सीट पर जो दो मूर्तियाँ बैठी हुई थीं, वे गाड़ी के शीशे चढ़े होने पर भी, अचीन्ही न रह सकीं मुझसे। सन्तराम की बग़ल में किरन की माँ ही तो थीं! शायद क्लार्क अवध से ही 'नारी-कल्याण' करके, थके मांदे लौटे चले आ रहे थे दोनो।

चलो यह रास्ता भी बन्द हुआ।
अब कहाँ जाया जा सकता है?

इधर-उधर फिर दृष्टि दौड़ाई तो आस-पास में कोई ऐसा मकान या जगह भी नहीं दीखी जहाँ आश्रय लिया जा सके। पेड़ के पीछे की ओर एक बंगला-नुमा मकान ज़रूर था। मगर उसका गेट भी बन्द और उसके पीछे बराम्दे के सभी दरवाजे खिड़कियाँ भी बन्द। गेट पर किन्हीं बंगाली सज्जन के नाम की बंगला लिपि मे लिखी नेम-प्लेट मानो दूर से ही घोषणा कर रही हो कि यहाँ किसी ग़ैर बंगाली का स्वागत-सत्कार संभव नहीं है।

लगा कि अब और कोई मार्ग नहीं है सिवाय इसके कि भीगती हुई ही चौराहे तक जाऊँ रिक्शा पाने के लिए और यदि रास्ते में ही कोई भलामानस कार वाला मिल जाय, जिसमें कार-आरूढ़ होने के बाद भी अभी कुछ मानवीयता शेष हो, तो उसका सहारा लेकर कम से कम हज़रतगंज तक तो पहुँच ही जाऊँ।

मगर न जाने मेरे किस जन्म के पुण्य-प्रभाव से इसकी नौबत नहीं आई। पेड़ का आश्रय छोड़कर, सड़क की तरफ बढ़ूँ, इससे पहले ही बंगाली सज्जन के मकान के बराम्दे से आवाज आई,—'कौन? दीपा?'

सुनकर पहले तो लगा कि कानों को धोखा हुआ होगा मेरे। फिर भी पीछे मुड़कर देखा तो वर्षा के भीने परदे के उस पार बरामदे में खड़ी बंगाली महिला--मूर्ति को पहचानने में मुझे अधिक परेशानी नहीं हुई। मन में एक प्रश्न चिह्न अवश्य खड़ा हो गया कि प्रिंसिपल झरना घोष यहाँ कैसे? वे तो कालेज कम्पाउन्ड में ही बने प्राचार्या—आवास में रहती हैं?

'दीपा ही हो न!'—अपेक्षाकृत ऊँचे स्वर में आवाज फिर आई। और उसी के साथ आवाज देने वाली महिला वर्षा की चिन्ता किये बिना बरामदे से नीचे उतरने का उपक्रम करती लगीं।

इस दूसरी पुकार पर मन भी मानो पूर्णतया आश्वस्त हो गया और इससे पहले कि मिस घोष बरामदे से उतर कर भीगती हुई बगिया में आकर काठका छोटा सा द्वार खोलतीं, मैं स्वयं उस द्वार को खोलकर, तेज कदमों से बरामदे की सीढ़ियों तक पहुँच गई।

'अरे बाबा, तुम तो पूरी तरह भीग गया रे?', अपने विशिष्ट बंगाली अन्दाज में कहते हुए, मिस घोष ने, मेरे अभिवादन का कोई नोटिस लिए बिना, बगल के कमरे का दरवाजा मेरे लिए प्रशस्त कर दिया। एक प्रकार से मुझे अन्दर ठेलती हुई कहती चली गई,—'चलो अन्दर चलो, कपड़ा बदलो पहले-फिर बात होगा।'

और सचमुच ही, मिस घोष ने तबतक मुझसे आगे कोई बात नहीं की जब तक अन्दर से एक धुली हुई सिलकन साड़ी और एक ब्लाउज लाकर मेरे कपड़े नहीं बदलवा दिए और काफी का एक भाप देता हुआ 'कप' मेरे हाथ में नहीं पकड़ा दिया।

दूसरा कप खुद अपने हाथ में लिए, मिस घोष ने उसी स्वागत कक्ष में मुझे अपने सामने सोफे पर बिठाकर जो पहला वाक्य कहा, वह था—'तुम सोच रही होगी कि हम यहाँ कैसे आया; है न?'

लखनऊ में ही जन्मी और पली मिस घोष, इच्छा होने पर ठेठ हिन्दु-

स्तानी लहजे वाली हिन्दी ही नहीं अपितु अवधी यानी लखनवी हिन्दी भी उतनी ही सरलता और प्राजलता के साथ बोल सकती थीं जितनी मातृभाषा बंगला। मगर आनन्द शायद उन्हें बंगला अन्दाज़ वाली हिन्दुस्तानी बोलने में ही आता था। हल्का-फुल्का मूड होने पर कालेज की अपनी सहकर्मिणियों से और इतर कर्मचारियों से वे सामान्यतया इसी अन्दाज़ में बात करती थीं।

उनकी जिज्ञासा के उत्तर में जब मैंने सिर हिलाकर हूँकरा सा भरा धीमे स्वर में, तो बात स्पष्ट करने के बजाय हंस पड़ीं मिस घोष। हंसते-हंसते ही बोलीं,—'मगर पहले अपनी बात नई बतायेगा कि तुम यहाँ कैसे आया?'

काफी का खाली प्याला सोफे के पास रक्खी छोटी तिपाई पर रख-कर उन्हें किरन के यहाँ आने की बात बताई।

'अच्छा तो किरन भी यहीं पास में रहता है?' कहते हुए मानो बाल-सुलभ कौतूहल से भर उठी हों मिस घोष।

'फिर तो चलेंगे उसके यहाँ भी।'

उनके उत्साह को देखकर मुझे लगा कि जैसे उस वर्षा में ही वे किरन के यहाँ चलने को उठ खड़ी होंगी।

मगर तभी अन्दर के कक्ष से एक धीमा सा नारी-स्वर सुन पड़ा और वे 'आरची' कहती हुई भाग लीं उधर को ही।

मैं एक बार फिर उस नितान्त अपरिचित परिवेश को समझने-बूझने की कोशिश में लग गई।

—कौन होंगे यह चक्रवर्ती महाशय, जिनके नाम की पुरानी मट-मैली सी तख्ती बाहर गेट पर लगी है?.........मिस घोष से उनका क्या सम्बन्ध होगा?......गृह-स्वामिनी ही हों जैसे, ऐसा निर्बाध अधिकार कैसे प्राप्त है मिस घोष को इस घर-परिवार में?—जैसे अनेक प्रश्न उठ रहे थे मेरे मन में उस घड़ी।

तब तक मिस घोष एक प्लेट में सेव की कटी हुई फांकें लिए फिर आ गईं।

उन्होंने प्लेट मेरी ओर बढ़ा दी और जैसे पहले से ही कुछ सोचकर आई हों, बोलीं—'मगर यह बताओ कि इधर कई दिनों से कालेज क्यों नहीं आ रहीं?'

मुझे लगा जैसे बोली के लहजे में परिवर्तन के साथ, मेरे प्रति उनके रुख में भी कुछ बदलाव आ गया हो।

फिर भी उस ओर ध्यान न देकर मैंने उन्हें सारी स्थिति बताई,—अपनी बीमारी की और पत्नी की बीमारी के कारण प्रसन्न की गहन पीड़ा की और शान्ति बहिन की तीमारदारी में अपनी अन्तर्ग्रस्तता की।

पूरी बात सुनकर उनके मुख का स्निग्ध भाव तो फिर लौट आया मगर बोलने का लहज़ा हिन्दुस्तानी ही रहा। चश्मे के पीछे से अपनी कमल-पंखुड़ी जैसी स्निग्ध आंखों से किंचित् कुतूहल भरा स्नेह बरसाती बोलीं,—'अच्छा तो यह बात है। तुम भी उसी रोग में मुब्तला हो, जिसमें मैं हूं।'

बात मेरी समझ में नहीं आई। इसलिए सेव की एक फांक हाथ में लिए ही देखती रही उनकी ओर प्रश्नवाचक मुद्रा में।

'तुम सेव खाओ, ऐसे मत देखो मेरी ओर?' सेब का एक टुकड़ा स्वयं कुतर कर, तनिक मुस्करा दीं मिस घोष।

'मगर आप किसी रोग की बात कह रही थीं न?'

'अरे हां—रोगिणी की सेवा करना भी तो एक रोग ही है।—और तिस पर सौत की सेवा करना! महारोग कहना चाहिए उसे तो।'

'सौ ऽ त?'

'हां सौत भई,—यानी सपत्नी।' कहकर मिस घोष ने सेब का बचा हुआ टुकड़ा भी रख लिया मुंह में।

'मगर··········'

'मगर-मगर कुछ नहीं दीपा ।—इधर देखो मेरी ओर······प्रसन्न की पत्नी तुम्हारी सौत ही तो हुई न ?' एकदम सीधा-सपाट प्रश्न, बिना किसी लाग-लपेट के।

'मगर मेरा विवाह कहाँ·········'

'तुम्हारा विवाह प्रसन्न से नहीं हुआ, यही कहना चाहती हो न,' कहते-कहते मिस घोष जमकर बैठ गई सामने पड़े दूसरे सोफे पर। 'चलो यही सही, हालांकि कालेज में सब दूसरी ही बात कह रहे हैं आजकल।··········मगर तुम तो इतनी पढ़ी लिखी, समझदार और कलामर्मज्ञ हो दीपा। क्या तुम्हारी दृष्टि में भी कोई धार्मिक संस्कार या किसी बाहरी व्यक्ति का साक्ष्य जरूरी है दो व्यक्तियों के विवाह के लिए ?... जब प्रसन्न को तुमने अपने सम्पूर्ण मन से अपनाया है तो उसे पति कहने में संकोच कैसा ?'

'मगर दुनियाँ-समाज ?'—मेरे मुँह से निकला किसी तरह और इस प्रयास में मेरे माथे पर पसीना छलछला आया।

'दुनियाँ और समाज का इतना डर था, तो प्रेम किया ही क्यों था तुमने ?' एकदम स्कूल की मास्टरनी का रोल निबाह रही थीं मिस घोष।

माथे पर चुहचुहा आये पसीने के अलावा मेरी आँखों में छलछला आये आँसुओं को भी शायद भाँप लिया होगा मिस घोष ने। इसीलिए टोन बदलकर अतिरिक्त मृदु स्वर में बोलीं,—'मगर मैं तो न दुनिया हूँ, न समाज, मुझसे घबराने की जरूरत नहीं है तुम्हें दीपा बेटी। बल्कि कहना चाहिए कि मैं तो खुद उसी पथ की राही हूँ जिसकी तुम हो। तभी तो अपनी सौत की सेवा में मैं भी लगी हुई हूँ यहाँ।'

अन्तिम वाक्य कहते कहते हल्के से मुस्करा दीं मिस घोष।

'आपकी सौत ?'

'हाँ—, मेरी सौत।'—सौत शब्द पर पूरा बल दिया मिस घोष ने।

'उधर मैन्टिलपीस पर बड़ पति पत्नी का जुड़वां फोटोग्राफ देख रही हो न ?—पास से देखने पर ही साफ दीखेगा, बहुत धुंधला पड़ गया है; पचीस-छब्बीस साल पुराना हो गया न ? फोटो में जो महिला हैं, वे ही तो मेरी सौत हैं', —कहकर फीकी हंसी फिर हंस दी मिस घोष ।

क्षण—दो क्षण ताकती रहीं उसी फोटो की ओर । फिर बोलीं, —'मेरी यह सौत यहीं है, इसी घर में पीछे के कमरे में ? मिलाऊंगी उनसे भी तुम्हें ।......और......और उनकी बगल में जो पुरुष है, वे मेरे वही हैं जो तुम्हारे प्रसन्न हैं।......नाम है—या कहना चाहिए था, प्रभास चक्रवर्ती ।'

'तो क्या......'

'हां, अब वो नहीं हैं इस संसार में । सात वर्ष पहले उन्होंने मुक्ति पा ली इस निर्दय दुनिया और समाज से और चलते चलाते मुझ पर बोझ डाल गये अपनी कानिज प्रस्त पत्नी का ।'

'च्-च्-च्-च् बड़ा दुःख सहना पड़ा है आपको तो',—एक बारगी ही निकल गया मेरे मुंह से ।

'हां दुःख और मानसिक क्लेश तो जरूर सहना पड़ा है, मगर अपनी ही बेवकूफी से । मुझे किसी वैद्य ने तो बताया नहीं था कि प्रेम करो एक विवाहित व्यक्ति से, एक ऐसे व्यक्ति से जिसका हृदय पहले ही किसी अन्य के पास गिरवी रक्खा हो ।'

'तो क्या उन्हे आपसे प्रेम नहीं था ?', संकोच अनुभव करते हुए भी ढीठ बनकर पूछ बैठी मैं ।

'कैसे कहूं कि प्रेम था या नहीं था',—विचार मग्न स्वर में धीरे-धीरे बोलीं मिस घोष ।......फिर क्षण भर रुककर पहले जैसे सहज स्वर में कहा,......'और अगर मैं तुमसे ही पूछूं कि प्रसन्न तुमसे प्रेम करते हैं या नहीं तो तुम क्या कहोगी ?'

तुरन्त निश्चय नहीं कर पाई मैं कि क्या उत्तर दूँ मिस घोष के इस प्रश्न का।

मुझे चुप देखकर मिस घोष ने अपना प्रश्न फिर दोहराया,—'बताओ न, करते हैं या नहीं करते हैं।'

'करते तो हैं ही,'—अस्फुट सा स्वर निकला मेरा।

'पूरे मन से?—यानी सम्पूर्ण हृदय से?' मिस घोष ने पूछा।

'लगता तो ऐसा ही है'—मैंने कहा किसी तरह से।

'मगर तुम तो अभी बता रही थी कि प्रसन्न अपनी पत्नी—क्या नाम है—उनका शान्ति—उन्हें बहुत चाहते हैं और उनकी बीमारी के कारण विक्षिप्त से हो गये थे·······'

'तो क्या कोई पुरुष दो स्त्रियों से प्रेम नहीं करता?', धड़धड़ाते हुए हृदय से पूछा मैंने।

'नहीं, क़तई नहीं।' बड़े दृढ स्वर में कहा मिस घोष ने।······ 'एक ही समय में पुरुष दो नारियों से प्रेम कर सके या नारी दो पुरुषों से, प्रेम-विधान में ऐसी गुंजाइश नहीं रखी है विधाता ने। और कोई ऐसा चमत्कार करने का दावा करता है तो वह स्वयं अपने आपको भी धोखा देता है और दूसरों को भी।'

'मगर क्यों···'

'इसमें अगर-मगर का प्रश्न नहीं है।', मिस घोष ने मेरी बात बीच में ही काटते हुए कहा।'पुरुष और नारी के बीच प्रेम सम्पूर्ण हृदय से ही किया जाता है और प्रेमी प्रतिदान में सम्पूर्ण हृदय ही चाहता है।···समग्र रूप से एकाधिकार,—यही पहली और अन्तिम शर्त है प्रेम की। किसी तीसरे की दखलन्दाजी बर्दाश्त ही नहीं करता प्रेम।'

गहरे सोच में पड़ गई मैं मिस घोष की इस स्पष्टोक्ति पर। वे जो कुछ कह रही थीं, वो तो इस बात का 'फतवा' जैसा था कि प्रसन्न मुझसे

प्रेम नहीं करते, कर ही नहीं सकते, जब तक कि उनके हृदय में शान्ति बहिन के लिए थोड़ा भी स्थान शेष है।

'सूर का यह पद याद है या नहीं—"ऊधो, मन नाहीं दस बीस।"'''एक हुतो, सो गयो श्याम संग, को आराधै ईस ?" बस समझ लो यही सारतत्व है प्रेम का। आजकल के फिल्मी नायकों का सा हिसाब नहीं है कि दिल के हजार दो हजार टुकड़े करके जेब में डाल लिए और जहाँ कोई अच्छी सूरत दीखी, वहीं एक टुकड़ा उछाल दिया और शराब का गिलास हाथ में लेकर बेसुरे सुर में अलापने लगे—"ओ मेरी जाने-जिगर"''''

जिस भावाभिनय के साथ मिस घोष ने अपनी बात पूरी की थी, उस पर हंसी आना ही स्वाभाविक था और मिस घोष भी शायद यही चाहती थीं कि मैं खिलखिला कर हँसूं और कक्ष में छाया भारीपन दूर हो किसी तरह से।

मगर मैं चाहने पर भी, मिस घोष को दिखाने के लिए भी हंसी की एक क्षीण रेखा भी ओंठों पर नहीं ला सकी। उलटे, शायद उत्तर जानते हुए भी पूछ बैठी—'मगर एक माँ क्या अपनी सभी सन्तानों से एक समय में ही एक समान प्रेम नहीं करती, एक भाई क्या अपनी बहिनों से, माता-पिता से प्रेम नहीं करता ?'

'छि: दीपा, तुम इतनी पढ़ी लिखी और समझदार होकर ऐसा सवाल कर रही हो ?'—हल्की सी स्नेह भरी झिड़कन थी मिस घोष के स्वर में।''''''माता-पिता की अपनी सन्तान के प्रति और सन्तान की माता-पिता के प्रति जो भावना होती है, वह प्रेम नहीं होता, वह स्नेह होता है। स्नेह में भी प्रेम जैसी एकाधिकार-भावना या ईर्ष्या जैसी चीज यदा-कदा मिल सकती है देखने को तुम्हें मगर नारी पुरुष के प्रेम जैसी नहीं। और स्नेह के भी ऊपर श्रद्धा और भक्ति का स्थान आता है। श्रद्धा में थोड़ी बहुत स्पर्धा-भावना रहती भी है किन्तु भक्ति में वह भी नहीं।

बल्कि इसमें तो "मोर-द मैरियर" वाली बात है। जिसके प्रति तुम श्रद्धा भाव रखती हो, उसके प्रति श्रद्धा रखने वाले जितने भी अधिक हों, उतना ही अच्छा। और अपने इष्टदेव के लिए भक्तों की भीड़ जुटाने में भक्त को जो अलौकिक आनन्द मिलता है, वह बताने की बात तो नहीं।'

मैं मिस घोष के लाकेट के 'पेन्डान्ट' पर दृष्टि गड़ाये अभी भी मन ही मन विवेचन कर रही थी, मिस घोष द्वारा बताए गूढ़ तत्वों का, कि वे उठ खड़ी हुईं। खड़े होते होते बोलीं,—'मगर—छोड़ो अब इस विषय को, आओ अपनी सौतिन से मिलाऊँ तुम्हें। उनके साथ बैठकर एक प्याला काफी पीना और फिर सीधे घर जाना। वर्षा भी क़रीब-क़रीब थम ही गई है।'

'और देखो कल कॉलेज जरूर आना,'—पृष्ठवर्ती कक्ष की ओर चलते चलते मिस घोष फिर बोल उठीं, 'और यह साड़ी और ब्लाउज वहीं ले आना। ये मेरी सौतिन अनुपमा के हैं। मैं वहीं तुम्हारे कपड़े ले आऊँगी।.......और हाँ अपने इस मैनेजर की किसी बात की परवाह मत करना लेशमात्र भी और वो कुछ भी क्यों न कहे, उसके यहाँ भूल कर भी मत जाना। उससे मोर्चा लेने को मैं काफी हूँ। फोटो के मामले में मैंने उसे समझा ही लिया है बल्कि परसों रात की गाड़ी से अपने साथ तुम्हें भी तीन चार दिन के लिए एन० सी० ई० आर० टी० की एक सेमिनार में अजमेर जाने के लिए उसकी स्वीकृति भी ले ली है। क्यों चलोगी न मेरे साथ अजमेर ? डा० आनन्द को कोई आपत्ति तो नहीं होगी ?'

लखनऊ से दो-चार दिन के लिए बाहर जाने का मिस घोष का यह आमन्त्रण मेरे लिए जितना आकस्मिक था, उतना ही सुखद भी। लखनऊ में मेरी जैसे साँस सी घुट रही हो, सो बिना सोचे विचारे ही मैंने भावातिरेक में 'हाँ' कर दी मिस घोष से और उनके पीछे पीछे अन्दर का बरामदा पार करने लगी, उनकी सौतिन से मिलने के लिए। कोई खो सी बात अब मुझे कुछ कुछ समझ में आ रही थी कि वे मैनेजर सन्तराम के पास जाने से पहले, मिस घोष से मेरे मिलने के बारे में इतने आग्रहशील क्यों थे।

□□

सत्रह

अजमेर पहुँचकर एक बार को ऐसे लगा कि जैसे उस नये अपरिचित परिवेश में नया जीवन मिल गया हो मुझे। प्रसन्न, शान्ति बहिन, मीरा, माई जी, चाची, मानी, गंगाधर, सन्तराम, कालेज और यहाँ तक कि मेरी अपनी कोख में पल रहा वह नन्हा जीवांकुर सभी अपनी अपनी उलझन भरी गुत्थियों के साथ, मानों युगों पीछे छूट गये हों।

नगर के बाहर अवस्थित 'रीजनल कालेज आफ एजुकेशन' कुछ-कुछ उजाड़ और बेरौनक सा होने पर भी पता नहीं क्यों पहली ही नजर में भा गया मुझे। कालेज के अतिथि गृह में, ठहरने-खाने का प्रबन्ध भी आशानुरूप ही निकला। और फिर सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि ट्रेनिंग-कालेजों के संगीत-प्राध्यापकों एवं प्राध्यापिकाओं की 'सैमिनार' कम वर्कशाप' में एक दिन विलम्ब से पहुँचने पर भी मुझे और मिस घोष को 'एक सिंगिल' कमरा रहने को मिल गया।

वहाँ सोचने-विचारने और अपनी व्यक्तिगत बातों पर विसूरने का समय ही नहीं हो जैसे। एकदम चुस्त और व्यस्त कार्यक्रम। प्रातः नौ बजे से ख्यातिप्राप्त संगीत-अध्यापकों द्वारा विषय का प्रतिपादन करने वाले संक्षिप्त किन्तु विचारोत्तेजक व्याख्यान, काफी ब्रेक, छोटे छोटे ग्रुपों में बँटे संभागियों द्वारा उप-विषयों का गहराई से विवेचन, पौन-घंटे का लन्च-ब्रेक और भोजन के साथ-साथ देश के लगभग नौ प्रदेशों से आये संगीत अध्यापकों और अध्यापिकाओं से पारस्परिक परिचय। अपराह्न में पुनः ग्रुपों में बैठकर नई विधाओं में नये संगीत-पाठों का प्रणयन होकर सेकन्डरी कक्षाओं के लिए, और शाम को साढ़े पाँच या पौने छः के लगभग जब तक 'कार्यशाला' का कार्य निपटे, तब तक लगे कि तन और मन

दोनों ही चुक गये हो पूरी तरह से। फिर तो अतिथिगृह के भोजन-कक्ष में एक प्याला चाय पीने के बाद यही मन होता था कि काश एक लिफ्ट भी होता इस अतिथि गृह में, तीसरी मंजिल पर अवस्थित अपने कमरे तक पहुँचने के लिए।

अजमेर पहुँचने के पहले दिन यही हाल हुआ था मेरा। फिर भी जी कड़ा करके ज़ीने की अठाईस सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ी थीं मुझे और ऊपर जाकर अपने कमरे में निढाल होकर बिस्तर पर पड़ गई थी मैं।

मगर कमरे में जाकर पड़ रहना ही मुसीबत बन जायेगा मेरे लिए, यह भला मैं कहाँ जानती थी? तकिये पर सिर टिकाकर आँखें बन्द की नहीं मैंने कि पलक मारते फिर लखनऊ पहुँच गई मैं, उसी परिवेश और माहौल में जिससे घबराकर मैंने मिस घोष का अजमेर चलने का आमन्त्रण बिना ज्यादा सोचे-विचारे बड़ी तत्परता के साथ स्वीकार कर लिया था। लाख झिटकना चाहा, अपने मन से लखनऊ को मैंने, मगर जितनी ही कोशिश की, उतना ही लखनऊ और वहां का जाना-पहचाना और भोगा हुआ माहौल हावी होता गया मन पर। बड़ा पछतावा भी हुआ मन में कि मैं भी मिस घोष और अन्य अनेक सभागियों के साथ अजमेर नगर के प्रसिद्ध स्थलों को देखने क्यों न चली गई। जब पचपन वर्षीया मिस घोष साढ़े आठ घंटे कार्यरत रहने के बाद भी 'साइट सीईंग' के लिए जा सकती थीं तो मैं क्यों नहीं जा सकती थी भला? मुझ पर ही कौन सा पहाड़ गिरा था जो थकावट का बहाना करके इस तरह कमरे में आकर अकेली ही यहाँ बन्द पड़ी हूँ और दिन में ही सपने देखे जा रही हूँ उसी लखनऊ के, जहाँ से जान छुड़ाकर भागी थी मैं। मगर अवांछित सपने देखना ही शायद नियति रही है मेरी।...लाचारी में आँखें फिर बन्द कर लीं मैंने। और आँखें बन्द करते ही लगा कि मैं फिर 'मालएवेन्यू' में मिस घोष की तथाकथित सौतिन से मिलने के बाद, रिक्शा करके घर पहुँची हूँ और फिर बिना आवाज किये, गैलरी वाले बाहरी ज़ीने से होकर दबे

पाँव भाई जी के कमरे में पहुँची हूँ और वहाँ देख रही हूँ भाई जी को शराब का गिलास सामने मेज पर रखते, ठीक उसी मुद्रा में अपने प्रिय सोफे पर बैठे हुए जिसमें उन्हें तीन दिन पहले लखनऊ में देखा था। और फिर तो जैसे वही जुगुप्सापूर्ण नाटक, जो तीन दिन पहले लखनऊ में भाई जी के शयन कक्ष में अभिनीत हुआ था—भाई जी, भाभी और मैं—इन तीन पात्रों के साथ, वही मानो एक बार फिर साकार हो उठा हो, मेरी बन्द आँखों के सामने, अपनी पूरी जीवन्तता, रहस्यात्मकता एवं व्यंग्यात्मकता के साथ।

उस दिन भी, यही छः के आस पास का समय रहा होगा जबकि मिस घोष से और उनकी तथाकथित 'सौतिन' से मिलकर घर लौटी थी मैं। थोड़ी देर शान्त रहकर आसमान ने एक बार फिर विकराल रूप धारण कर लिया था और लखनऊ की वह 'शामे-अवध' गहरे सुरमई रंग में डूबी बड़ी भयावह सी लगने लगी थी। छः बजे ही घर की बत्तियाँ जल गई थीं। """ऊपर छत पर पहुँचकर, अपने कमरे में न जाकर भाई जी के कक्ष की ओर केवल यह जानने गई थी कि आखिर क्या कारण है कि चार-साढ़े चार तक अपनी पिकनिक के लिए निकल जाने वाले भाई जी की गाड़ी आज अभी तक पोर्टिको में ही खड़ी है।"" ""कहीं कुछ तबियत तो खराब नहीं हो गई भाई जी की ! भाई जी और भाभी दोनों के ही कमरों की बत्तियाँ जल रही थीं, जिससे मेरी आशंका को और बल मिला था। धीरे से परदा हटाकर झाँका कमरे में तो देखा कि भाई जी सोफे में अधलेटे, योगियों जैसे ध्यानावस्थित भाव से कमरे के दूसरे छोर पर कहीं ध्यान लगाए पाइप के धुएँ का आनन्द ले रहे हैं धीरे-धीरे। आश्वस्त होकर सोफे के निकट पहुँचती हूँ तो एक तीव्र झटका सा लगता है मुझे यह देखकर कि भाई जी अकेले नहीं हैं कमरे में। कमरे के दूसरे छोर पर भाभी भी खड़ी हैं, चित्रलिखित मूर्ति सी, साथ लगे हुए अपने कमरे के दरवाज़े की चौखट का सहारा लिए और दोनों के बीच में, सोफे के पास लगी छोटी गोल

मेज पर पीटर स्कॉट की एक बोतल खड़ी है अभिमान से सिर ऊँचा किये।''''''और बोतल के पास, मेज पर ही,-एक शीशे का गिलास भी है शराब जैसे द्रव से आधा भरा हुआ और वहीं एक रिवाल्वर भी रक्खा है—भाई जी का अपना वेबली स्काट .३८ रिवाल्वर। पूरा 'सेट अप' हो मानो किसी आधुनिक फिल्मी दृश्य का हो जिसके प्रमुख पात्र 'हीरो' या 'विलेन'—जो भी कहा जाय'''लग रहे हैं स्वयं भाई जी। देखकर एक धक्का और लगा मेरी चेतना को।

पूछने ही को थी कि आखिर माजरा क्या है कि तबतक भाई जी—जैसे उन्हें मेरी उपस्थित का अहसास हो गया हो, और मानो वे मेरी ही प्रतीक्षा कर रहे हों,—सोफे पर अधलेटे ही अधलेटे घूम पड़ते हैं मेरी ओर और अपनी बगल में सोफे के खाली स्थान को हाथ से थपथपाते हुए कहते हैं,—'अच्छा तो आ गई तू, आ बैठ यहाँ।'

मगर मुझे, न जाने क्यों, डर सा लग रहा है भाई जी की ओर देखने में। इसलिए उनके पास सोफे पर न बैठकर, बेंत का एक मूढ़ा खींच कर बैठ जाती हूँ, मेज से थोड़ी दूर पर।

भाई जी शायद मुझे आश्वस्त करने के ही लिए मेरी ओर देखकर हँसते है एक फीकी सी हँसी।

—'आप क्या मेरा ही इन्तजार कर रहे थे?' थोड़ी हिम्मत बटोर कर और यकायक तेज हो आई साँस को काबू में करके पूछती हूँ मैं।

भाई जी पाइप मुँह से निकालकर, सिर हिलाते हैं, अजीब भाव से जिसका मतलब कुछ भी निकाला जा सकता है।

'मगर यहाँ तो लगता है, जैसे किसी ड्रामे की तैयारी हो'—मैंने भाई जी से लेकर शराब की बोतल, रिवाल्वर, और भाभी जी तक निगाह घुमाते हुए कहा।

इस बार भाई जी हँस पड़ते हैं जोर से—नितान्त बेरौनक हंसी। हँसते-हँसते ही कहते हैं,—'पगली—ड्रामा देखना था, तो मुझे थोड़ा पहले

आना था।.........अब तो बस आखिरी सीन बाक़ी है इसमें का।'

'आखिरी 'सीन'? क्या मतलब?' बौखलाया हुआ सा स्वर निकलता है मेरा।

'आखिरी सीन का मतलब नाटक का अन्तिम दृश्य यानी द एण्ड,' कहकर भाई जी गिलास उठाकर एक बड़ा घूंट भरते हैं और बुझा हुआ पाइप सुलगाने लगते हैं।

'द एन्ड'? हैरानी भरा मेरा स्वर फिर निकल पड़ता है।

'और क्या? नाटक अगर कामेडी हुआ तो मिलन हो जाता है और यदि दुःखान्त हुआ तो विछोह हो जाता है......नायक का नायिका से या प्रेमिका का प्रेमी से......'

'मगर यह कौन से नाटक की बात कर रहे हैं आप?' मेरी आवाज फटने को हो जाती है और मेरी दृष्टि भाई जी और भाभी जी के बीच भटकने लगती है—इधर से उधर।

भाई जी जैसे मेरी बेकली को भाप जाते हैं और मेरा धैर्य जवाब न दे जाय, इसलिए अपनी आवाज और मुखमुद्रा को यथासंभव सहज बनाते हुए कहते हैं—'अरे पगली नाटक और कौन करेगा भला। इस घर में एक ही तो नाटककार है।'

'कौन गंगाधर?' दबी जुबान से पूछती हूँ मैं।

'और कौन? सुबह सुबह अपनी बीबी के साथ जो नाटक कर रहा था, उसके बारे में बता ही गया था टीटू तेरे सामने ही। फिर तेरे अस्पताल चले जाने के बाद मैंने खुद नीचे जाकर उससे बात की तो मकान के बटवारे के नाम पर नाटकीयता से भरे दो-चार पैंतरे उसने मुझे भी दिखाए। मगर एक दो झांपड़ खाने के बाद नया उतर गया उसका और उसी समय नाटक समाप्त कर दिया उसने।'

'आपने मारा उसे?'—भाई जी ने गंगाधर की मस्ती दो झांपड़ों से ही झाड़ दी, सुनकर अच्छा ही लगा मुझे।

'फिर क्या करता ? आखिर थोड़ा बहुत नाटक तो मैं भी कर लेता हूँ......और मैं ही क्या, समझ बूझ रखने वाला हर इन्सान कर लेता है—। है न दीपा ?'

'उं-हूं—हूँ'

भाभी की दिशा से आई आवाज़ को सुनकर, चौंक कर देखा मैंने उनकी ओर।

दरवाज़े से थोड़ा आगे खसक आई थी भाभी और उनके खड़े होने की भंगिमा भी कुछ बदल गई थी। अपनी पीठ को दीवार की धोक सी दिये, अपना दाँया हाथ उन्होंने क्राकरी के 'कबर्ड' पर टेक लिया था और दूसरा हाथ कमर के पीछे कर लिया था। उनके खड़े होने का अन्दाज़ कुछ ऐसा था कि कटि-भाग में बड़ा आकर्षक खम सा पड़ गया था। अस्वाभाविक रूप से दप-दप करते हुए उनके गोरे चेहरे पर न जाने कैसा तिक्तिभाव था जिसे कोई भी नाम देना कठिन था। कुल मिलाकर, हलकी फालसाई साड़ी में वे किसी मान-खण्डिता नायिका की प्रतिकृति सी लग रही थी।

भाभी के मुख से निकली उस असमीक्षणीय आवाज़ पर, भाई जी कई क्षणों तक उन्हीं की ओर देखते रहे।

'भाभी जी, यहाँ आकर बैठ जाइए न ?'—कहते-कहते मैं उठने को होती हूँ, मगर भाई जी हल्के किन्तु दृढ़-गंभीर स्वर में बरज देते हैं मुझे।

'यह आयेंगी नहीं। कहकर देख चुका हूँ। इन्हें दूर रहने में ही सुख है।'

'क्या ऽ ?'—चिहुँककर पूछती हूँ मैं।

'हाँ, तो क्या कह रहा था मैं ?' भाई जी मेरी आपत्ति को दरगुजर करते हुए, चल रही बात का सूत्र फिर टटोलने लगते हैं।

—'हाँ तो अभी घंटा भर पहले नाटक के उसी 'सूत्रधार' ने अपना

वही वेतुका नाटक फिर शुरू कर दिया नीचे आँगन में खड़े होकर—इस बार एकदम 'वीभत्स-शृंगार' रस में।'

'वीभत्स-शृंगार ?'

'हाँ भई, शृंगारिकता का जो वीभत्स से वीभत्स और कुत्सित से कुत्सित रूप हो सकता है, उसी का मंचन कर रहा था वह। पर की महराजिन, नौकर चाकर, चाची, मुनीम जी, मैं और तुम्हारी भाभी',—यहाँ भाई जी रुके क्षण भर को और भाभी की दिशा में चुभती उड़न-दृष्टि फेंकते हुए बात समाप्त की अपनी यह कहकर कि 'सभी तो मूक-दर्शक थे उस नाटक के।'

चुपचाप सुनती रहती हूँ भाई जी की बात को बिना उसका पूरा आशय समझे और बीच-बीच में भाभी जी की ओर दृष्टि फेंकती रहती हूँ।
भाभी उसी निर्विकार भाव से अचल बनी खड़ी हैं।

भाई जी कहते जा रहे हैं,—'और नाटककार भी ऐसा कि सभी पात्रों की भूमिका स्वयं ही निभा रहा था।'''अभी अपनी बीबी का पार्ट अदा कर रहा है तो अभी डा० आनन्द सरे उर्फ 'भड़ुआ' बन जाता है और अगले क्षण बना 'भाभी' उर्फ वेश्या''''''

—'क्या उसने आप लोगों के लिए ऐसा कहा ?', भाई जी की घुमाई—फिराई बात का वास्तविक आशय पकड़ते हुए मैं पूछ उठती हूँ।

'हाँ हमने तो ऐसा ही सुना—और तुम्हारी भाभी ने भी जरूर सुना होगा—'

मेरी दृष्टि भाभी जी तक जाकर ठहर जाती है कुछ पलों को वहीं।

'और भाषा ?', भाई जी बात को आगे ले चलते हैं,—'भाषा ऐसी कि रिक्शेवाले और हिजड़े भी कानों पर हाथ रख लें सुनकर। एक भी 'वेद-वाक्य' बाकी नहीं छोड़ा कहने को उसने, मेरे और तुम्हारी भाभी के 'सम्मान' में।'

'और चाची—चु-प''''''चुपचाप रहीं ?'—जिज्ञासा कर उठती हूँ मैं।

भाई जी अपना बुझा हुआ पाइप एक बार फिर जला लेते हैं और मुँह से निकले धुएँ को हाथ से इधर-उधर करते हुए मरे-मरे स्वर में कहते हैं—'वैसे, उनका उस पर बस ही कहाँ चलता है,फिर भी बीच में एक बार बोलने की ग़लती कर बैठी थी वे, मगर उस पर उन्हें और उनके प्रिय मुनीम जी पंडित कन्हैयालाल को जो सुनना पड़ा उसे न तो कहा जा सकता है और न तुम्हारा सुनना ही उचित है।'

'क्या इतनी भयंकर बातें कही उसने ?'

'हाँ समझ लो कोई बात कहने को छोड़ी नहीं।······बाक़ायदा अभिनय करके यह भी बता दिया कि उसकी माँ कैसे मुनीम कन्हैया लाल के साथ लड्डू गोपाल जी के नाम पर रास-लीला रचाती है—और यह भी सुना दिया कि गाँव मे उसके कौन-कौन से प्रेमी यार थे······'

'आपने मारा नहीं फिर उसे ?'

'मारने को ही तो निकाला था यह रिवाल्वर',—भाई जी शायद हँसी-हँसी में ही बात उड़ाना चाहते हैं मेरी।

मगर मेरे यह पूछने पर कि, 'तो क्या आप उसे जान से मारते ?'—भाई जी फिर गंभीर हो जाते हैं। फिर धीरे-धीरे कहते हैं—'चाहता तो यही था ताकि रोज़-रोज का यह झंझट निबट जाये हमेशा के लिए······'

'मगर···'

'मगर फिर इरादा बदल दिया। सोचा कि यह तो एक गोली खाकर मुक्ति पा जायेगा सभी कष्टों से और मुझे फाँसी के इन्तज़ार में बरसों फाँसी से भी बदतर यातना झेलनी होगी इस देश की जेलों में। इसके अलावा तुम्हारी भाभी भी सहमत नहीं जान पड़ी मेरे इस इरादे से।'

सुनकर एक गहरी उसास निकल जाती है मेरे मुँह से,—मानो किसी विषम अस्वस्तिकर स्थिति से मुक्ति मिल गई हो यकायक। साथ ही मुँह से निकल पड़ता है—'चलिए अच्छा ही हुआ कि भाई के हाथ भाई के खून से नहीं रंग पाये।'

'ओऽ हो-हो-हो' करके भाई जी हँस पड़ते हैं । हँसते हुए ही कहते हैं—, 'मगर भाई—पथाजात भाई भी समझे जाने की ग़लत फहमी तो वह पहले ही दूर कर चुका था । गला फाड़-फाड़ कर जता दिया था उसने सभी को—अपनी आदरणीया माँ को भी कि वह उस व्यक्ति की सन्तान नहीं है जिसे उसकी माँ का पति समझा जाता है । बड़े स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी उसने कि गाँव का कोई भी गबरू जवान पासी, धोबी या हलवाहा उसका असली बाप हो सकता है मगर जटाधर खरे नहीं क्योंकि उसके जन्म से सवा साल पहले ही सन्यासी बनकर लगभग सालभर तक घर से लापता रहने का नाटक वह एक बार पहले भी कर चुका था ।'

—'यह सब क्या कह रहे हैं आप',—मैं अचकचाहट भरे विभ्रान्त स्वर में कह उठती हूँ ।

'वही जो गंगाधर ने कहा है अभी कुछ देर पहले । केवल उसके कथन के विस्तार और शब्दों की अश्लीलता को ही यथा सम्भव कम किया है मैंने ।'

मगर मेरा मन भाई जी के इस गुरु गंभीर स्वर को भी पचा नहीं पा रहा है मानो । कह उठती हूँ,—'अरे, शराब की झोंक में बक गया होगा यह सब, और आपने उसे सत्य मान लिया ?'

'एक बात बताऊँ तुझे दीपा'—इस बार भाई जी की वाणी और अधिक गहरा जाती है । 'शराब में और जो चाहे दुर्गुण हो, मगर वह झूठ कम ही बुलवाती है इन्सान से, ज्यादातर तो सत्य का ही उद्घाटन कराती है ।'

'इसीलिए शायद आपने दिन में भी सेवन शुरू कर दिया इसका,.. मैंने तो पहली बार ही देखा है आपको दिन में शराब पीते', विद्रूप—व्यजित स्वर निकल पड़ता है मेरा ।

'नहीं यह बात नहीं है दीपा',—भाई जी के स्वर की कठोरता तनिक

और कम्पायित हो उठती है । 'एक अनपेक्षित काम करने के लिए साहस बटोरने में ही शराब का सहारा लेना पड़ गया था मुझे,'''और तू तो मेरी बड़ी प्यारी बहिन है न,—छोटी बहिन, इसीलिए तुझसे अपनी इस कमजोरी को छिपाता आया था अबतक। आखिर जन्मजात् कायर हूँ न मैं।'

'उ-हूँ-हूँ'''भाभी जी के मठारने जैसी आवाज फिर सुनाई पड़ती है एक बार।

भाई जी भी उधर देखते हैं और मैं भी। मगर उस मठारने के अलावा भाभी जी की ओर से और कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, मानो मठार कर उन्होंने भाई जी के अपने लिए 'कायर' शब्द प्रयोग करने के औचित्य की पुष्टि भर की हो।

'तब तो शायद उसने आपके लिए और भाभी जी के लिए भी जो कुछ कहा, वह भी सच हो',—गहरे व्यंग्य मे तिलमिलाता सा स्वर निकलता है मेरा।

भाई जी क्षण भर को मानो स्तब्ध हो जाते हों मेरी बात पर। दो क्षण मेरी ओर ताकते हैं—और एक उड़ती नजर भाभी की ओर डालते हैं। फिर बड़े गम्भीर लहजे में कह उठते हैं,'''''हाँ—हो सकता है।'

भाभी जी के मठारने की आवाज एक बार फिर सुन पड़ती है। इस बार जरा जोर से।

अगले ही क्षण देखती हूँ कि भाभी अपने कमरे में चली गई हैं और वह स्थान शून्य पड़ा है जहाँ अभी तक वह खड़ी थीं।

और मैं, चिल्ला पड़ती हूँ जोर से—'नहीं ऽऽ नहीं—ऽऽ'

'क्या नहीं-नहीं ?' कमरे के दरवाजे के पास से जैसे आवाज आई हो किसी की।

आँख खोल कर देखा तो मिस घोष को खड़ा पाया, अपनी चारपाई के पास। कुछ क्षणों पहले का सारा तिलिस्म टूट गया जहाँ का वहाँ।

'क्या सो गई थीं? आठ बजे से ही?', मिस घोष ने पूछा मेरे बिस्तर के किनारे पर बैठते हुए।

'नहीं तोऽ'—बड़ी मुश्किल से बोल फूटा मेरा और उसी के साथ ही दिमाग़ पर छाई धुंध भी दूर हो गई। अजमेर और अजमेर का रीजनल कालेज और वहाँ के अतिथिगृह का वह कक्ष, सभी कुछ चेतना पर फिर उभर आया अपनी पूरी वास्तविकता के साथ। लखनऊ तिरोहित हो गया। एक दुःस्वप्न की तरह।

'और यह 'नहीं—नहीं' क्या चिल्ला रही थीं',—मिस घोष ने पूछा मुस्करा कर।

—क्या उत्तर दूँ—सोचकर मैं भी मुस्करा पड़ी। कहा,—'कुछ नहीं—कोई खराब सपना देखा हो शायद।'

'खाना नहीं खाओगी?' मिस घोष ने पूछा।

और तभी मुझे लगा, जैसे सुबह से ही भूखी होऊँ मैं। बिना कोई हीला-हवाला किए चल पड़ी मिस घोष के साथ, नीचे की मंजिल पर भोजन कक्ष की ओर।

□□

अठारह

और उसके बाद तो अजमेर की गोष्ठी के अगले पाँच दिन भी ऐसी ही आँख-मिचौनी में बीत गये। दिन भर गोष्ठी और कार्यशाला के व्याख्यानों, सामूहिक विचार-विमर्श और नये पाठों की संरचना में अजमेर में बीतता और शाम का धुँधलका बढ़ते ही लखनऊ हावी हो जाता मुझ पर। वैसे शाम को अजमेर के दर्शनीय स्थलों को देखने का प्रोग्राम रोज ही बनता था मगर मैं थकान का या तबीयत ठीक न होने का बहाना करके, रोज ही मुक्ति पा लेती थी उससे, या कहना चाहिए कि कोई जबर्दस्ती कहलवा लेता था वैसा। बस एक शाम जरूर फँस गई थी ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की मजार देखने के कार्यक्रम में। मगर उसका मुझे कोई अफसोस नहीं था, रंचमात्र भी। उलटे बड़ा ही सार्थक लगा था वहाँ जाना। पता, नहीं उसी दिन कोई खास अवसर था या नित्य ही यही माहौल रहता था वहाँ मगर उस रात तो, ऊपर आकाश में टिमटिमाते तारों और दरगाह में जल रही असंख्य प्रकाश-कणिकाओं के बीच गाई जा रही मस्ती और माधुर्य से भरी कव्वालियों ने मुझे एक दम भाव-विभोर कर दिया था। भला हो माई जी के शेरो-शायरी के शौक का, मुझे ठेठ उर्दू और फ़ारसी के अल्फाज और सूफियाना अन्दाज में गुम्फित कव्वालियों को समझने में और उनका आनन्द लेने में कोई कठिनाई नहीं हुई थी। सच पूछा जाय तो उसी दिन प्रसन्न की संगीत सम्बन्धी उस स्थापना को मैं खुले-दिल से स्वीकार कर सकी थी कि शास्त्रीय संगीत को यदि सही मानी में लोकप्रिय बनाना है और उसे विदेशों में भी प्रतिष्ठित करना है तो उसके स्वर-आडम्बर को कुछ कम करना होगा, पिटी-पिटी पुरानी 'बन्दिशों' के बोलों को गुरुमंट एवं

सार्थक शब्दों से सजाना—संवारना होगा, गायकी और उसके काव्य पक्ष में कुछ ऐसा सामंजस्य बिठाना होगा जिसमें श्रोता नाद-सौन्दर्य का अनुभव करने के साथ भाव-जगत् में भी विचरण कर सकें और नई उद्भावनाओं और काव्य—बिम्बों का भी आनन्द ले सकें। पुणे के संगीत सम्मेलन में प्रसन्न ने अपनी इसी स्थापना के बल पर ही तो संगीतविदों की और कलामर्मज्ञों की वाहवाही लूटी थी। और वास्तव में कितना तथ्य था उनके इस कथन में कि नाद संगीत की आत्मा अवश्य है किन्तु सामान्य जन उसका भावनात्मक आनन्द तभी ले सकता है जब कि आत्मा के साथ शरीर का भी दर्शन कर सके। और संगीत का कलेवर या उसका मूर्तरूप तो उसके स्वर ताल बद्ध काव्य मय शब्द ही हो सकते हैं जो हमारी भावनाओं को आन्दोलित एवं तरंगायित कर सकें।......बहुत ही कृत कृत्य होकर लौटी थी ख्वाजा साहब की दरगाह से, उस रात मैं, जैसे बिना कोई मुराद किये ही बहुत कुछ मिल गया हो। अतिथिगृह पहुँच कर मिस घोष के आग्रह को दरगुजर करके बिना खाना खाये ही सो गई थी। वह रात क़व्वालियों के नाम थी। उस रात लखनऊ की यादें कोई छेड़-छाड़ नहीं कर पाई थीं मेरे साथ।

वैसे, मिस घोष भी बहुत ख्याल रखती थीं मेरा। बिलकुल माँ की तरह। उनका प्रयास यही रहता था कि यथासंभव मैं अकेली न रहूँ। इसीलिए अगर अन्य संभागियों के साथ शाम को कहीं बाहर घूमने-देखने जाती भी थीं, तो बहुत जल्द लौट आती थीं। लौटकर कभी मुझसे वायलिन बजवा कर सुनतीं, कभी इस उम्र में भी रसीले बने स्वर में रवीन्द्र-संगीत या कोई बाउल-गान सुनातीं। राधा को सम्बोधित भक्ति-रस से सराबोर बाउल साधु-साधुनियों के गीत उन्हें विशेष प्रिय थे। भाव-विह्वल स्वर में जब 'मदन' बाउल का वह प्रसिद्ध भजन—'राधे, तोमार वेदोना के की जाने'...गातीं तो जैसे रस की वर्षा सी होने लगती कक्ष में। वायलिन पर मेरी उंगलियाँ श्लथशिथिल हो उठतीं और

साथ-साथ पैर भी थिरकने को मचल उठते । लखनऊ के एक डिग्री कालेज की प्रधानाचार्या मिस झरना घोष को भला कब किसने देखा था इस रूप में ।

गाते-गाते बीच में ही रुक जातीं, कहतीं,—'दीपा, क्या इसी तरह शेष जीवन नहीं बीत सकता हम दोनों का ।···काश बस प्रेम ही प्रेम होता इस संसार में—विवाह जैसी कोई चीज ही न होती जो मनुष्य को दायरा में बाँध दे, सीमित और क्षुद्र कर दे ।'

'मगर उससे तो कुंठाएं बढ़ेंगी ही',—मैं कहती ।'

'क्यों बढ़ेंगी कुंठाएं ?'—मिस घोष पूछती तनिक आग्रहशील स्वर में ।

'क्योंकि तब कोई किसी को सम्पूर्ण रूप से अपना नहीं कह पायेगा । और संसार में किसी को भी अपना न कह पाने की कुंठा से बदतर और कौन सी कुंठा हो सकती है ?'

मेरी बात शायद अच्छी नहीं लगती मिस घोष को । भौंहे टेढ़ी करके कहतीं,—'सम्पूर्ण रूप से किसी को अपनाने की बात छलना है दीपा । दूसरे शब्दों में इसे मानव का 'ईगो' या 'अहम्' कह सकती हो । कोई किसी को सम्पूर्ण रूप से नहीं अपनाता····'

'मगर आप ही तो कह रही थीं लखनऊ में उस दिन', मिस घोष की बात काटकर बीच में ही बोल उठती मैं,—'कि प्रेम सम्पूर्ण हृदय से ही किया जा सकता है और कि समग्र रूप से समर्पण के बिना प्रेम नहीं हो सकता ।'

'ठीक ही तो कहा था मैंने दीपा । इसीलिए तो वास्तविक प्रेम दुर्लभ है इस संसार में । बाउल-समाज ने इस तथ्य को भली भाँति पहचाना है । इसीलिए उन्होंने मानवीय प्रेम को, जो दो व्यक्तियों के निजी स्वार्थों के 'एडजस्टमैन्ट' के अलावा कुछ भी नहीं है, भक्ति-भाव में समाहित कर दिया है, तन-मन की रसिकता से उत्पन्न पारस्परिक आकर्षण के

उद्दाम वेग को रस-सिद्धि की दिशा में मोड़ दिया है, जिससे ईर्ष्या, द्वेष और मत्सरता का प्रश्न ही पैदा न हो।'

'मगर इससे तो वर्जनाहीन यौनाचार को ही बढ़ावा मिलेगा,'—मैं कहती।

—'प्रेम के नाम पर यह तो हो ही रहा है इस संसार में,'—मेरी शंका को शब्दों से कम, मगर अपने दोनों हाथों की भंगिमाओं से अधिक निरर्थक सिद्ध करती हुई, मिस घोष कहतीं। 'कभी कभी तो लगता है कि 'फ्रायड' ने ठीक ही कहा था कि मानव के समस्त कार्य-कलाप के पीछे उत्प्रेरक शक्ति सेक्स यानी कामवासना ही है।'''अब चक्रवर्ती महाशय को ही लो। एक समय था जबकि इसी अनुपमा यानी अपनी पत्नी को वे अपने प्राणों की जगह मानते थे और उसका स्थान संसार में किसी अन्य नारी को देने को तैयार नहीं थे। उसके लिए मेरे उत्कट प्रेम को भी नगण्य क़रार देते रहे,—मेरे शरीर को भोगकर भी मुझे निरादृत करते रहे। मगर जब अपनी उसी प्राणाधिक पत्नी से उनके स्वार्थों की पूर्ति नहीं हुई—यानी न तो उन्हें सन्तान सुख मिला और न उसके गिरते हुए स्वास्थ्य के कारण पहले जैसा शारीरिक सुख, तभी वे इधर-उधर नजरें फेंकने लगे। उसी मोह-मुक्त या मोहाविष्ट-जो भी कहो—अवस्था में उन्होंने मेरे दरवाजे पर भी दस्तक दी थी आकर, मुझसे विवाह करके मुझे सम्पूर्ण रूप से अपनाने की भी सौगन्ध खाई थी—मगर तब तक बहुत देर हो चुकी थी। इसलिए मैं, उसके बाद, यदा-कदा स्वयं अपनी क्षुधा के कारण उनके तन की क्षुधा को तो शान्त करती रही किन्तु उनके साथ विवाह बन्धन में बँध जाने की ग़लती मैंने नहीं की। उनके जीवन के अन्त-तक उनके स्वार्थ की पूर्ति मुझसे होती रही और मैं अपना स्वार्थ उनसे पूरा करती रही। इसे क्या कहोगी दीपा तुम, यौनाचार या प्रेम?'

बड़ा दिल दहला देने वाला प्रश्न था मिस घोष का। स्तब्ध, अवाक् बनी देखती भर रह गई थी मैं मिस घोष की ओर।

मिस घोष हँस पड़ती मेरी वह हत-वाक् मुद्रा देखकर। कहतीं,—'अच्छा छोड़ो इस झगड़े को। मैं तो तुम्हे केवल यह बताना चाहती थी कि प्रसन्न न तो तुम्हारी ओर सम्पूर्ण भाव से समर्पित है और न अपनी पत्नी शान्ति के प्रति। पूर्ण सर्मपण हो उसका तो संगीत के प्रति भले ही हो जिसका अर्थ है स्वयं अपने प्रति समर्पित होना। अपनी पत्नी मे भी उसके कई स्वार्थ जुड़े है—सन्तान का भविष्य, पिछले बारह-चौदह वर्षों मे साथ साथ भोगे हुए क्षणों और अहसासों का सुख, गृहस्थी का संचालन, सामाजिक प्रतिष्ठा और शारीरिक क्षुधा तो है ही सबसे ऊपर; जबकि तुमसे उसके केवल दो स्वार्थों की पूर्ति होती—संगीतात्मक और शारीरिक।......और शारीरिक आकर्षण तो, जैसा कि तुम जानती हो, तभी तक है जबतक कि तुम युवा हो यानी कि चन्द दिनों का। हाँ—संगीतात्मक या बौद्धिक आकर्षण में स्थायित्व हो सकता है, मगर उसका भी विकल्प तो हो ही सकता है। तुमसे भी अधिक संगीत प्रवण, प्रखर-बुद्धि, युवा-आकर्षक-सुन्दर नारी इस देश मे या विदेशो मे न हो, इससे तो शायद तुम भी इन्कार नही करोगी।'

कितना कटु और तिलमिला देने वाला सत्य निहित था, मिस घोष की इस अभ्युक्ति मे, इसे भली भाँति समझने पर भी मेरा मन, मानो इस कथन की सत्यता से विद्रोह कर उठता। मगर मुँह से कुछ भी न कह पाती और एक नपुंसक आक्रोश के वशीभूत होकर मिस घोष की क्रोड में मुँह छुपा लेती—रोने के लिए।

मगर एक बार इस तरह रुला लेने के बाद,......तथाकथित पवित्र आत्मिक प्रेम की असलियत उसके निपट नग्न रूप मे बेनकाब करने के बाद, स्वयं अपने जीवन के गुह्यतम अकथनीय रहस्यो को एक बालसखी जैसे घनिष्ट अन्दाज मे बयान करने के बाद,—मिस घोष फिर वही ममतामयी माँ बन जाती। हाथ पकड़कर मुझे भोजन कक्ष मे ले जाती, आग्रह कर करके खिलातीं और फिर कमरे मे लौटकर हल्के-फुल्के विनोदात्मक अन्दाज में आप-बीती और जग-बीती सुनाती रहतीं तब तक जबतक कि मैं नींद का बहाना करके, उनकी ओर से करवट ही न बदल लेती। □□

उन्नीस

मिस घोष द्वारा की गई प्रेम की ऐसी बेबाक शल्य क्रिया के परिणाम-स्वरूप, आँसू भले ही बहाने पड़ते हों मुझे, मगर उससे कहीं अन्तर में काफी कुछ बल भी मिलता था मुझे। बल अपने को लेकर नहीं, बल्कि प्रसन्न को लेकर। बल क्या, एक प्रकार की राहत सी मिलती थी यह सोचकर कि चलो अगर विवाह के बिना नारी पुरुष के बीच प्रेम सम्बन्धों की भीतें ऐसी ही कच्ची, खोखली और बेबुनियाद हैं, जैसा कि मिस घोष निरूपित करती हैं तो प्रसन्न को इस रेतीले घरौंदे के अचानक ही ढह जाने पर ज्यादा तकलीफ़ या परेशानी नहीं होगी; मुझमें—एक अतिरिक्त प्रेमिका से विछोह की व्यथा अधिक उद्वेलित-पीड़ित नहीं कर पायेगी उन्हें। या कहा जाय, यह आघात ऐसा नहीं होगा, जो उन्हें जड़ से उखाड़ दे या उनके मानसिक-सन्तुलन को लम्बे-लम्बे समय के लिए डगमगा दे; उनकी संगीत-साधना को ही ले डूबे।

वैसे मैं यह भी समझती थी कि ऐसा सोचकर मैं स्वयं अपनी हार स्वीकार कर रही हूँ; अपनी उन सभी संधारणाओं और अन्तर्विश्वासों को ही नकार रही हूँ, जिन्हें मैं अपने जीवन के मार्ग निर्देशक संकेत-पट्ट समझती आई थी अब तक तथा जिनपर मेरी जीवन-दर्शन की पूरी इमारत खड़ी थी। मिस घोष की बात को सच समझ कर मानों मैंने मान लिया हो कि प्रसन्न का मेरे प्रति आकर्षण मात्र सतही-बौद्धिक एवं शारीरिक आकर्षण है। उसमें वह गहराई और सम्पूर्ण समर्पण की भावना नहीं है, जिसे प्रेम की संज्ञा दी जा सके। प्रसन्न की मौजूदगी में या उनके आस-पास रहते मेरे लिए ऐसा सोचना मुश्किल ही नहीं बल्कि असम्भव होता। क्योंकि उनके सामने होने पर तो मुझे यही लगता आया है कि मेरे बिना

प्रसन्न 'प्रसन्न' नहीं रह सकता; मुझसे बिछुड़कर न इसका संगीत रहेगा और न इसकी यह हंसी रहेगी।

लखनऊ से चलते समय जब शान्ति बहिन और मीरा बहिन से विदा लेने मिश्रा नर्सिंग होम गई थी, तब भी तो प्रसन्न की उस सहज शान्त मौन मुद्रा को देखकर यही लगा था मुझे कि प्रेम की स्वीकारोक्ति में यह व्यक्ति एक शब्द भी न बोले, भूले से भी कभी उसने 'तुम मेरी हो' न कहा हो, मगर यह 'मेरा है' इसमें कहीं किसी सन्देह की गुंजाइश नहीं। —मीरा की प्रगल्भता में और प्रसन्न के मौन में कितना असीम अन्तर था, इसे कोई भी देखने वाला और समझने वाला समझ सकता था। मीरा ने तो एक छोटा मोटा बवंडर ही खड़ा कर दिया था, मेरे छः सात दिन के लिए बाहर जाने की बात पर। इतनी लम्बी यात्रा से मेरे ढीले-ढाले स्वास्थ्य को और धक्का लगेगा, शान्ति बहिन को मेरे जाने से बुरा लगेगा, प्रसन्न जीजा की चिन्ताएँ और बढ़ेंगी—जैसे अनेकानेक संगत-असंगत तर्क रख दिये थे, उसने मेरे सामने, मुझे बाहर जाने से रोकने के प्रयास में। मगर प्रसन्न एक भी शब्द नहीं बोले थे मुझे रोकने के लिए। बल्कि जो थोड़े से शब्द बोले थे मेरे जाने के बारे में उनका आशय यही था कि अगर जाना जरूरी है तो मुझे जाना ही चाहिए। अच्छा अवसर मिला है, संगीत-सेवा का, उसे खोना नहीं चाहिए।......फिर भी मुझे पूरी मुलाक़ात भर यही लगता रहा था कि उनकी आँखें लगातार मुझसे यही कह रही हैं कि यदि जाना ही है तो तुम्हें रोकूँगा नहीं, मगर जल्दी ही लौट आना, लौट जरूर आना, लम्बे समय तक मुझसे अलग मत रहना...।

आज सोचती हूँ तो लगता है कि वह मेरा भ्रम ही रहा होगा। मगर उस क्षण तो मैं चीख चीखकर प्रसन्न से यह कहने को भी तैयार थी कि एक बार रुकने को कह कर देखो तो! लेकिन उस समय भाई जी भी तो साथ थे। उनके रहते या शान्ति बहिन की मौजूदगी में कैसे कहती यह

बात। प्रसन्न का भी आधा ध्यान भाई जी की बातों में बँटा हुआ था जो उन्हें अपने 'स्वनाम धन्य' चचेरे बदजात भाई गंगाधर की पिछले दो दिन की करतूतों का हाल सुना रहे थे बड़ा रस ले लेकर।

गंगाधर की ज़िद पर हम लोगों के घर का बंटवारा होने जा रहा है—और होने ही नहीं जा रहा है बल्कि भाई जी ने आनन-फानन सीमेन्ट बालू, ईंट, आदि जुटाकर बीच आँगन में 'पार्टीशन' की दीवाल पर काम भी लगवा दिया है, सुनकर प्रसन्न भी उसी तरह चौंके थे, जिस तरह पिछले दिन मैं चौंकी थी, भाई जी के मुँह से उनका यह नया निर्णय सुनकर। मैंने तो, खैर, यह सोचकर तसल्ली कर ली थी कि अगर घर के बँटवारे से ही, भाई जी की मानसिक शान्ति और सुरक्षा का मार्ग प्रशस्त होता है, तो चलो यही सही। रोज-रोज की हाय-हाय तो खत्म होगी और भाइयों में पूनखराबी की बात तो आगे नहीं उठेगी। मगर प्रसन्न के गले यह बात नहीं उतरी थी। न जाने कैसे अजीब-अटपटे स्वर में कह उठे थे वो,—'यह तो ठीक बात नहीं है। पहले तो गंगाधर का आप लोगों के इस मकान पर कोई हक़ बनता ही नहीं और अगर कुछ हो भी तो उससे पहले दीपा का भी तो कुछ अधिकार है अपने पिता की सम्पत्ति पर।'

और कोई होता तो शायद प्रसन्न की इस बात का कुछ और अर्थ लगा लेता। सोचता यह आदमी शायद दीपा के साथ-साथ उसकी पैतृक सम्पत्ति पर भी नजर गड़ाये हुए है। मगर भाई जी अपने मित्र प्रसन्न को भली भाँति जानते थे। वे जानते थे कि पैसे और भौतिक सम्पत्ति के मामलों में प्रसन्न एकदम संन्यासी है। प्रसन्न की बात पर 'हो-हो' करके हँस पड़े थे भाई जी। हँसते-हँसते ही कहा था उन्होंने,—'अरे भाई, दीपा की पैतृक सम्पत्ति केवल उसका भाई है जिसका नाम है आनन्द।··· जानते हो, पिछली रात सोई ही नहीं यह लड़की। रात भर चक्कर काटती रही अपने कमरे से मेरे कमरे तक इस डर से कि कहीं मेरे चाचा का वह

सुपुत मेरी हत्या करने के लिए ऊपर न आ जाय ?'

भाई जी की यह बात सुनकर भौचक्की रह गई थी मैं कि इन्हें भला कैसे मालूम हुआ कि मैं रात भर निगरानी-करती रही हूँ जीने के मार्ग की।

तभी भाई जी आगे कह उठे थे,—'भई इसीलिए तो मुझे दूसरे दिन उठते ही यह निर्णय लेना पड़ा कि मकान का बटवारा कर ही दिया जाय, नहीं तो यह लड़की निश्चित मन से सेमिनार में भी नहीं जा सकेगी और जायेगी भी तो अपने भैया के बारे में ही सोचती रहेगी वहाँ।'

सुनकर असीम आनन्दानुभूति हुई थी मुझे कि भाई जी को मेरा कितना ख्याल है। किन्तु उससे भी अधिक सुख मुझे प्रसन्न की उस आपत्ति में मिला था जो उन्होंने मकान के बँटवारे को लेकर भाई जी से की थी। प्रसन्न की वह बात सुनकर मुझे लगा था कि वे निश्चय ही मुझे अपना मानते हैं। अन्यथा पराये मामले में दखलंदाजी की प्रवृत्ति प्रसन्न में बिलकुल नहीं थी।

आज अजमेर के रीजनल कालेज के इस कक्ष से मुड़कर पीछे देखती हूँ तो उस बात में भी कोई विशेष सार नहीं लगता। इतना अपनत्व तो साधारण जान-पहचान वाले भी जता जाते हैं, किसी भी परिवार में ऐसी विवाद-ग्रस्त स्थिति आने पर।

ऐसी ही न जाने और भी कितनी छोटी-छोटी बातें थीं, जिन्हें मैं, मिस पोप के प्रवचनों की घुट्टी पीने से पहले तक, प्रसन्न की ओर से उनके प्रगाढ़ प्रेम का द्योतक मानती आई थी और तटस्थ तार्किक दृष्टि से देखने पर, आज वही बातें मुझे बेमानी और सारहीन लग रही थीं।

ऐसी ही एक बात, चार साढ़े चार वर्ष पहले प्रणय की उषा-बेला में ही, मेरे फिल्मों में जाने की बात को लेकर भी हुई थी। बात उठाई भर ही थी मैंने कि प्रसन्न अपने स्वभाव के एकदम विपरीत भड़क उठे थे एक साथ। तेज उद्‌वेलित स्वर में बोले थे, 'फिल्मों में क्या शरीर की नुमा-

इश लगाने जाना है ?' मेरे पूछने पर कि क्या फिल्मों में औरत नुमाइश ही लगाती है अपने शरीर की, प्रसन्न पहले से भी अधिक तिक्त हो उठे थे। व्यंग्य भरे स्वर में बोले थे,—'नहीं अकेली नुमाइश ही क्यों ? पहले एक सौदागर लालची माँ-बापों या अभिभावकों की सहमति से उनकी रूप-सी पुत्रियों की नुमाइश लगाता है फिल्मी पत्रिकाओं के माध्यम से, फिर दूसरे सौदागर माल को देखते परखते हैं, फिर मोल-भाव होता है या नीलामी बोली लगती है और सबसे ऊँची बोली लगाने वाला पा लेता है उस नीलामी 'जिन्स' को कुछ समय के लिए। बस फिर तो नीलाम चलता ही रहता है उस समय तक, जब तक कि 'कला-कर्त्री' का मुलम्मा न उतर जाय। इस नीलाम घर से उस नीलामघर में, इन हाथों से उन हाथों में……'

प्रसन्न को शायद कुछ और उत्तेजित करने के ही लिए मैंने पूछ लिया था—'और कला ?'

'बम्बइया फिल्मों में कला का ठेका पुरुषों ने ही लिया हुआ है और उनकी सबसे बड़ी कलाकारिता फिल्मी नारी के दोहन तक ही सीमित है।' कहकर प्रसन्न ने मुँह कुछ ऐसा बना लिया था, जैसे कोई कड़वी बदज़ायका दवा उन्हें बरबस निगलनी पड़ गई हो।……बात का अन्त उन्होंने बड़े अवसाद-ग्रस्त स्वर में यह कहते हुए किया था कि, 'पता नहीं कैसे कोई पिता या पति अपनी पुत्री या पत्नी को एक वेश्या की तरह आचरण करते देखता है, बर्दाश्त करता है और इसी में गौरव अनुभव करता है।'

सुनकर अन्दर ही अन्दर निहाल हो गई थी मैं। मन-मन्दिर में संजोने के लिए प्रसन्न की एक बाँकी छवि और मिल गई थी और आगे की जीवन-यात्रा के लिए पाथेय मिल गया था। इससे ज्यादा और चाहिए भी क्या था मुझे। प्रसन्न मुझे पत्नी का गौरव नहीं दे सकते थे, यह उनकी मजबूरी थी। मगर वो मुझे पत्नीवत् मानते हैं, यह विश्वास ही कौन कम था मेरे लिए ? मगर जिस घोष से बात करके लगा था ... भी शायद मेरा 'भरम' ही रहा होगा।

मगर जहाँ मिस घोष की कृपा से अपने अन्तर में पाले हुए इन 'भरमों' की वास्तविकता पहचानने की समझ पैदा हुई थी मुझमें, वहीं यह प्रतीति भी पीछे नहीं रही थी कि ये सब 'भरम' खुद मेरे ही पाले पोसे हुए हैं, प्रसन्न को इनके लिए दोष नहीं दिया जा सकता।

प्रसन्न का क़सूर अगर कुछ था तो इतना ही कि उन्हें संगीत से अत्यधिक लगाव था, लगभग दीवानगी की सीमा तक। मिस घोष ने ठीक ही कहा था कि प्रसन्न का पूर्ण समर्पण शायद संगीत के ही प्रति है, और किसी के प्रति नहीं। और सचमुच ही संगीत के लिए प्रसन्न कुछ भी कर सकते थे। पहले भले ही मैं न समझ पाई होऊँ, मगर अब स्पष्ट दीखने लगा था मुझे कि मेरे प्रति उनका प्रारंभिक झुकाव संगीत को लेकर ही रहा होगा। मगर उस झुकाव या आकर्षण को भी उन्होंने प्रेम का रूप न देकर स्नेह का ही रूप दिया था। बहिन का स्नेह। मित्र की बहिन को उन्होंने बहिन ही मान कर प्यार किया था और सत्पात्र समझकर अपना समस्त संगीत कौशल एवं ज्ञान उसे दे देना चाहा था। स्वयं अपने मन के खोट के कारण उस स्नेह को नारी-पुरुष के प्रेम में बदलने वाली मैं ही थी। और उस प्रेम को, पुणे के उस संगीत सम्मेलन में, उसकी अन्तिम परिणति तक पहुँचाने में भी प्रमुख हाथ मेरा ही रहा था। इसलिए अब, जबकि परिस्थितियोंवश उस प्रेम-सम्बन्ध को समाप्त करने की नौबत आ ही पहुँची थी तो उसमें भी प्रमुख भूमिका मुझे ही निभानी थी। शहीद मुझे ही बनना था। और यह शायद मेरा अहं ही था जो मुझे अब तक यह समझाता चला आया था कि मेरी इस शहादत में असली कष्ट कहीं प्रसन्न को ही न हो। मेरी यह भावना कुछ वैसी ही थी जैसे मरणासन्न व्यक्ति अपने बारे में कम और अपने प्रियजनों के बारे में ज्यादा चिन्तित होता है कि मेरे बिना इनका क्या होगा, इनका काम कैसे चलेगा, जैसे उनके जीवन का सारा दारोमदार उसी पर हो। वाह री मनुष्य की अहम्मन्यता! कैसी-कैसी गलत-फहमियाँ करा देती है यह। भला हो मिस घोष का कि उन्होंने मुझे, देर से ही सही, इस गलतफहमी से मुक्ति दिला दी थी। ☐

बीस

मिस घोष ने मुझे केवल एक गलतफहमी से ही नजात नहीं दिलाई थी। अगले दिन संगोष्ठी के अन्य संभागियों के साथ प्रसिद्ध तीर्थ-स्थल 'पुष्करराज' जाकर पुण्य अर्जित करने का लोभ संवरण कर, उसकी जगह ख्वाजा साहब की दरगाह की दुबारा यात्रा में मेरा साथ देने में उन्होंने मानों मेरे ऊपर एक और बड़ा अहसान किया था। वहाँ दरगाह में भी सूफियों की रहस्य भरी भाषा में गाई जा रही कव्वालियों के मर्म तक पहुँचने में तो उन्होंने मेरी सहायता की ही थी, लौटने पर उन्होंने मुझे अपने और प्रसन्न के प्रेम प्रसंग में, अपने आपको शहीद मानने की व्यर्थता का भी भली भाँति अहसास करा दिया था।

रात के साढ़े आठ बजे दरगाह से रिक्शे से लौटते समय बात उन्होंने ही शुरू की थी। उस शाम दरगाह में भक्तिरस मे डूबी जो अनेकानेक कव्वालियाँ सुनने को मिली थीं, उन्हीं की विशद व्याख्या करती हुई सूफी सम्प्रदाय की अद्वैत भावना को मेरे गले उतारने का प्रयास कर रही थीं बेचारी। और उनकी बात सुनकर मुझे लग रहा था कि जैसे कृष्ण-रंग-राती गोपियों पर उद्धव व्यर्थ ही अपना ज्ञान झाड़ रहे हों और उन्हें निरर्थक ही समझा रहे हों कि—'हे गोपियों, तुम कान्हा के चक्कर में क्यों पड़ी हो'''। उधर से अपना ध्यान हटाकर, परब्रह्म में'''उस विराट सत्ता में मन लगाओ जो जगत् के कण-कण में व्याप्त है।'

एक बार को तो मन में आया था मेरे कि 'रत्नाकर' की ही वाणी में गोपियों की प्रतिक्रिया भी बता दूँ उन्हें कि—'चेरी हैं न ऊधो, काहू, ब्रह्म के बबा की हम, सूधो कहे देत एक कान्ह की कमेरी हैं—' या कि 'जे अभिमान तो गवैहैं ना गये हू प्रान, हम उनकी हैं, वे प्रीतम हमारे है।'

मगर तभी मिस घोष अपनी बात की पुष्टि में उस शाम सुनी एक कव्वाली का वही मिसरा उद्धृत कर बैठीं, जो लगातार मेरे दिलो-दिमाग में भी उमड़-घुमड़ रहा था :

'यूँही बैठे रहें पास चिलमन के वो,
चाँद ढलता रहे, दम निकलता रहे।'

मिसरा उनके मुँह से निकला ही था कि मैं भावुकता मे यह कहने की गलती कर बैठी कि—'बस यही मेरी भी तमन्ना है।'

बस, मेरी इसी बात पर ताव खा गई थीं मिस घोष। किंचित् रुक्ष स्वर में बोलीं,—'ओह्खोह्, तो शहीद बनना चाहती हो तुम प्रसन्न की नज़रों में?'

'क्यों इसमें क्या कोई बुराई है? उनका भी सरदर्द दूर हो जायेगा और मैं भी मुक्ति पा जाऊँगी तमाम झंझटों से।'......मैं कह उठी थी केवल मिस घोष की प्रतिक्रिया जानने के भाव से, वरना आत्महत्या की बात तो कभी गम्भीरतापूर्वक मेरे मन में आई ही नहीं थी।

हँस पड़ी थीं मिस घोष मेरे इस जवाब पर। फिर अगले क्षण ही पूरी संजीदगी के साथ कहा, था उन्होंने—'एकदम बचकाना ख्याल है तुम्हारा। तुम्हारे आत्मनाश करने से उसका सरदर्द कम नहीं होगा, बल्कि बढ़ जायेगा। इसलिए कि तुम्हारे प्रति उसका पूर्ण समर्पण भले ही न रहा हो, मगर वह उन संस्कारहीन व्यक्तियों में से नहीं है जो लड़कियों के शरीर और जीवन से क्षणिक खिलवाड़ करके उन्हें अपने जीवन से 'चाट' के दोने की तरह दूर फेंक देते हों। तुम्हारे इस कदम से उसमें जितना अपराध-बोध पैदा होगा, उसकी कल्पना की है कभी तुमने?'

—'फिर और क्या रास्ता हो सकता है, उनके और शान्ति बहिन के मार्ग से हटने का?'—मिस घोष की संजीदगी का मज़ा लेने के ख्याल से शरारतन बात को आगे बढ़ाया मैंने।

—'क्यों, तुम सूझ नहीं सकती हो......?—अपने मन से निकाल

नहीं सकती हो हमेशा-हमेशा के लिए ?' मिस घोष ने मेरे प्रश्न का उत्तर प्रश्न द्वारा देते हुए कहा था।—'आखिर इतना बड़ा संसार है, इतना लम्बा समय है—कोई और भी तो मिल सकता है तुम्हें, जिसके स''' जीवन की नाव खेई जा सके, जो तुम्हारे सपनों में रंग भर सके।'

—'आप सपनों की बात कर रही हैं दीदी, मगर इस साकार सपने का क्या होगा जो मेरे पेट में पल रहा है पिछले दो मास से,' भावातिरेक में कह उठी थी मैं।

'अच्छा ऽऽ तो बात यहाँ तक पहुँच चुकी है,'—कहकर मिस घोष जरूरत से ज्यादा गम्भीर हो गई थी।

क्षण भर रुककर आगे कह उठी थीं—'मगर मुझे यह पहले ही समझ जाना चाहिए था। क्योंकि नारी-पुरुष के आकर्षण का 'पड़ाव' दो शरीरों का मिलना ही तो है।......मगर आज के युग में यह कोई ऐसा बन्धन तो नहीं जिससे मुक्ति न पाई जा सके या जिससे छूटने के लिए शहादत का मार्ग ही अपनाना पड़े।'

'और अगर जीते-जी इस बन्धन से छूटने की इच्छा ही न हो तो ?'—मैं कह उठी धीमे किन्तु निर्णायक स्वर में।

'तब भी कोई बात नहीं',—मिस घोष ने तपाक से कहा। 'ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है इस संसार में जो तुम्हें इस बंधन के रहते हुए भी न अपना सकें।'

'मगर यह क्या जरूरी है कि शेष जीवन-यापन के लिए किसी पुरुष का सहारा ढूँढ़ा ही जाय ?' मैंने कहा।

'नहीं, वह भी जरूरी नहीं है आज की दुनियाँ में। स्वेडन आदि स्कैन्डिनेवियन देशों में तो यह आम बात है ही। इस देश में भी कुमारी माताओं की कोई कमी नहीं है।......मगर......'

'मगर क्या ?' मैंने पूछा......

'मगर वह भी एक प्रकार की तथाकथित शहादत होग

तुम प्रसन्न को यह दिखाना चाहोगी कि देखो सिर्फ तुम्हारे प्रेम के कारण मैं अपने आप को सभी सांसारिक सुखों से वंचित कर, तपस्विनी का जीवन बिता रही हूँ। और इसके पीछे तुम्हारा अहंभाव ही होगा, जिसकी सार्थकता तभी होगी जबकि प्रसन्न को यह अहसास बराबर बना रहे कि उसकी बेवफाई के कारण तुम निर्वासिता सीता की तरह उसके बच्चे का पालन-पोषण करती हुई, जीते जी मृतवत् जीवन बिता रही हो।'

मिस घोष के तर्क में वज़न था जिससे मैं इन्कार नहीं कर सकती थी। शायद इसी कारण कुछ झुंझलाहट सी हो आई मुझे।

—'तो आपका आशय है कि बिना किसी दूसरे पुरुष के साथ घर बसाये इस शहादत की भावना से उद्धार नहीं हो सकता मेरा?'

'बिलकुल सही समझीं तुम,' मिस घोष ने कहा।—'तुम भी एक 'नार्मल' ज़िन्दगी जियो और प्रसन्न भी, इसके लिए ज़रूरी है कि इस संसार के सामान्य मापदण्ड के अनुसार एक नई गृहस्थी बसाओ जिससे तुम्हें भी सामान्य जीवन जीने का अहसास हो और प्रसन्न भी समझे कि कि तुम्हें उसने एक असामान्य जीवन बिताने के लिए मजबूर नहीं कर दिया।'

'यह आप कह रही हैं, दीदी, आप?...आप, जिनकी यह चाहना है कि काश संसार में विवाह जैसी कोई चीज़ ही न होती और जिनकी यह धारणा है कि विवाह मनुष्य को दायरों में बाँध कर सीमित और क्षुद्र कर देता है?'

'हाँ, दीरा, धारणा आज भी वही है मेरी, मगर जब तक विवाह से बेहतर कोई मार्ग नहीं है मनुष्य-समाज के पास, मानवीय सम्बन्धों को व्यवस्थापित करने का, तब तक तो इससे समझौता करना ही पड़ेगा।'

—'तो फिर, आखिरी सलाह यही है आपकी कि प्रसन्न और मेरे

बीच जो कुछ भी बीता है, उसे एक चलताऊ 'अफेअर' मात्र मानकर भूल जाऊँ?' मन के उत्ताप को मन में ही दबाये दबाये कहा मैंने।

'हां ऽ, कुछ कुछ ऐसा ही', मिस घोष ने अपने पान डिब्बे से एक पान निकालकर मुँह में दबाते हुए कहा।

—'और समझ लूं कि प्रसन्न से प्रेम करके मैंने गलती की थी··· और···'

'न न न न' मिस घोष मेरी बात बीच में ही काट कर जोशीले स्वर में बोल पड़ी थीं। 'प्रेम करना गलती नहीं होती। क्योंकि प्रेम किया नहीं जाता बल्कि परिस्थितियोंवश हो जाता है और यह परिस्थितियां या प्रेम करने का अवसर भाग्यशाली व्यक्तियों को ही मिलता है। भगवान के अनेक वरदानों में से यह भी एक वरदान है, एक दुर्लभ अनुभूति है, जिसका अनुभव जिन्दगी में यदि एक बार भी किया जा सके तो जीवन समृद्ध होता है। उस प्रेम का अन्त कैसा भी क्यों न हो, शारीरिक मिलन हो, या न हो, प्रेम परिणय में परिणत हो या न हो, मगर उस प्रेमानुभूति का जीवन में अपना ही महत्व है री, अपना ही निराला स्थान है। इसलिए प्रेम करके तुमने कोई गलती नहीं की दीपा।'

—'बड़ी मुश्किल कर दी मेरी तो आपने दीदी', कहते हुए रोने को हो आई मैं। केवल रिक्शेवाले का ख्याल करके ही भम्पा नहीं फोड़ा मैंने। 'कभी तो आप कहती हैं कि जो कुछ हुआ है उसे एक चलताऊ चक्कर या 'अफेअर' मानकर भूल जाओ और दूसरे ही क्षण कहती हैं कि प्रेम करके तूने अच्छा ही किया। एक दिव्य अनुभूति हो गई तुझे·······'

'सही ही तो कह रही हूँ मैं', मिस घोष पान भरे मुख से बोली किसी तरह। फिर पान की पीक थूक कर आगे बोलीं—'नारी-पुरुष के बीच प्रेम हो जाना सचमुच ही दिव्य और नायाब अनुभव है। मगर

को शाश्वत मान कर चलना एक भूल है। प्रेम तो वैसा ही एक सुन्दर अनुभव है जैसे कि आदमी सभ्यता और विज्ञान से अछूते किसी रमणीक प्रकृति-स्थल की प्राकृतिक सुषमा का चरम वैभव देखकर अभिभूत हो जाता है और उसे जीवन की चरम उपलब्धि मान बैठता है कुछ देर को। उस क्षण का आनन्द जीवन में बाद में भी लेता रहता है वह, मगर उसे ही सारे जीवन की थाती तो नहीं मानता। यह मानकर तो नहीं चलता कि वही सत्य एवं शाश्वत है, जीवन के शेष अनुभव कुछ नहीं।……और…'

'और क्या ?'

'और यह कि तुम्हारे मामले में तुमसे दूसरी भूल यह हो गई कि असफल प्रेम का यह अनचाहा फल भी तुमने स्वीकार कर लिया।'

—'यह तो फिर आपने उलटी बात कह दी दीदी।' विनोदात्मक किन्तु तिक्त स्वर में कह उठी मैं। 'फल मीठा हो या कड़वा, चाहा हो या अनचाहा। फल तो फल ही है। फिर मेरे प्रेम को असफल कैसे कह दिया आपने ?'

मिस घोष इस पर कुछ नहीं बोली। पान की जुगाली करती रही।

- 'इसके अलावा, मेरे लिए मेरे प्रेम का एक बेशकीमती तोहफा नहीं हो सकता क्या यह ?'

'अब तो इसे तोहफा ही मानना पड़ेगा', मिस घोष का स्वर फिर निकला।' ऐसा तोहफा जो तुम्हें हमेशा याद दिलाता रहे उस असफल प्रेम की।

'यही मैं चाहती भी हूँ कि मेरा प्रेम मुझे जीवन भर याद आता रहे—हर घड़ी, हर पल, इससे बढ़ कर और कुछ नहीं चाहिये मुझे।'

'हैंदे, पगली, समय बड़ा बलवान होता है—और शरीर की माँगें उससे भी बलवती।'

—'आप तो दीदी, आज जैसे प्रेम की ही खिल्ली उड़ाने पर तुली

है। आप शायद पति पत्नी के बीच प्रेम को भी शाश्वत प्रेम नहीं मानतीं।'

—'सच ही कह रही हो तुम। मैं उसे भी शाश्वत नहीं मानती। हाँ इतना मानती हूँ कि उसमें अपेक्षाकृत स्थायित्व अधिक होता है। निरन्तर सम्पर्क के कारण, जीवन के खट्टे मीठे अनुभवों को एक साथ, हाथ से हाथ मिलाकर झेलने के कारण, जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में एक दूसरे के सम्पूरक होने के कारण। मगर यह स्थिति भी सभी पति पत्नियों के बीच नहीं होती। केवल परस्पर समर्पित व्यक्ति ही इस सौभाग्य के भागी होते हैं।'

'और असमर्पित व्यक्ति?'

'वे केवल जीवन भर साथ रहकर कर्तव्य पालन मात्र करते हैं एक एक दूसरे के प्रति जैसे तुम्हारे भाई जी और तुम्हारी भाभी। एक के जाने पर दूसरे के जीवन में कोई विशेष रिक्ति नहीं आती। उस खाली जगह को किसी दूसरे से भर भी लिया जाता है।'

सुनकर सुन्न रह गई मैं। सड़क के खम्भों पर टिमटिमाते बल्बों की मटमैली रोशनी में चार-छः क्षण देखती ही रह गई मिस घोष के मुँह की ओर यह जानने को कि उन्होंने यह बात मजाकियन कही है या इसमें कुछ गम्भीरता भी है।

मगर उस नीम-अंधियारी सड़क पर रोशनी नहीं थी इतनी कि उनके चेहरे के भावों को पढ़ सकूँ मैं।

रिक्शा चलता रहा अपनी मन्थर-गति से और मैं रिक्शे के पायदान पर कस कर पैर जमाये हुए-ताकि नीचे की ओर न खसकूँ-सोचती रही भाई जी और भाभी के बारे में। प्रसंग की बात जैसे एकदम पीछे छूट गई हो उस घड़ी।

—तो क्या भाई जी और भाभी के बीच कर्तव्य-निर्वाह ही चल

को शाश्वत मान कर चलना एक भूल है। प्रेम तो वैसा ही एक सुखद अनुभव है जैसे कि आदमी सभ्यता और विज्ञान से अछूते किसी रमणीक प्रकृति-स्थल की प्राकृतिक सुषमा का चरम वैभव देखकर अभिभूत हो जाता है और उसे जीवन की चरम उपलब्धि मान बैठता है कुछ देर को। उस क्षण का आनन्द जीवन में बाद में भी लेता रहता है वह, मगर उसे ही सारे जीवन की थाती तो नहीं मानता। यह मानकर तो नहीं चलता कि वही सत्य एवं शाश्वत है, जीवन के शेष अनुभव कुछ नहीं।......और....'

'और क्या?'

'और यह कि तुम्हारे मामले में तुमसे दूसरी भूल यह हो गई कि असफल प्रेम का यह अनचाहा फल भी तुमने स्वीकार कर लिया।'

—'यह तो फिर आपने उलटी बात कह दी दीदी।' विनोदात्मक किन्तु तिक्त स्वर में कह उठी मैं। 'फल मीठा हो या कड़वा, चाहा हो या अनचाहा। फल तो फल ही है। फिर मेरे प्रेम को असफल कैसे कह दिया आपने?'

मिस घोष इस पर कुछ नहीं बोली। पान की जुगाली करती रही।

- 'इसके अलावा, मेरे लिए मेरे प्रेम का एक बेशक़ीमती तोहफ़ा नहीं हो सकता क्या यह?'

'अब तो इसे तोहफ़ा ही मानना पड़ेगा', मिस घोष का स्वर फिर निकला।' ऐसा तोहफा जो तुम्हें हमेशा याद दिलाता रहे उस असफल प्रेम की।

'यही मैं चाहती भी हूँ कि मेरा प्रेम मुझे जीवन भर याद आता रहे—हर घड़ी, हर पल, इससे बढ़ कर और कुछ नहीं चाहिये मुझे।'

'हुँह, पगली, समय बड़ा बलवान होता है—और शरीर की माँगें उससे भी बलवती।'

—'आप तो दीदी, आज वैसे प्रेम की ही खिल्ली उड़ाने पर तुली

है। आप शायद पति पत्नी के बीच प्रेम को भी शाश्वत प्रेम नही मानतीं।'

—'सच ही कह रही हो तुम। मैं उसे भी शाश्वत नही मानती। हाँ इतना मानती हूँ कि उसमे अपेक्षाकृत स्थायित्व अधिक होता है। निरन्तर सम्पर्क के कारण, जीवन के खट्टे मीठे अनुभवों को एक साथ, हाथ से हाथ मिलाकर झेलने के कारण, जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति में एक दूसरे के सम्पूरक होने के कारण। मगर यह स्थिति भी सभी पति पत्नियों के बीच नही होती। केवल परस्पर समर्पित व्यक्ति ही इस सौभाग्य के भागी होते हैं।'

'और असमर्पित व्यक्ति ?'

'वे केवल जीवन भर साथ रहकर कर्तव्य पालन मात्र करते हैं एक एक दूसरे के प्रति जैसे तुम्हारे भाई जी और तुम्हारी भाभी। एक के जाने पर दूसरे के जीवन में कोई विशेष रिक्ति नही आती। उस खाली जगह को किसी दूसरे से भर भी लिया जाता है।'

सुनकर सुन्न रह गई मैं। सड़क के खम्भों पर टिमटिमाते बल्बों की मटमैली रोशनी में चार-छः क्षण देखती ही रह गई मिस घोष के मुँह की ओर यह जानने को कि उन्होंने यह बात मजाकियत कही है या इसमें कुछ गम्भीरता भी है।

मगर उस नीम-अँधियारी सड़क पर रोशनी नही थी इतनी कि उनके चेहरे के भावो को पढ़ सकूँ मैं।

रिक्शा चलता रहा अपनी मन्थर-गति से और मैं रिक्शे के पायदान पर कस कर पैर जमाये हुए-ताकि नीचे की ओर न खसकूँ-सोचती रही भाई जी और भाभी के बारे में। प्रसन्न की बात जैसे एकदम पीछे छूट गई हो उस घड़ी।

—तो क्या भाई जी और भाभी के बीच कर्तव्य-निर्वाह ही चल

रहा है इतने वर्षों से ? दोनों के बीच प्रेम नाम की कोई चीज वास्तव मे नही है क्या ?······

—मगर भाई जी कितना ध्यान रखते हैं भाभी का ? सामने होती हैं भाभी तो भाई जी उन्हीं का मुँह जोहते रहते हैं। उनके लिए एक से एक फैन्सी साड़ियाँ लाते हैं,जेवर बनवाते हैं, उनकी रुचि की किताबें और पत्रिकाएँ लाते हैं, उन्हें घुमाने ले जाते हैं, सिनेमा का टिकट खुद ही मँगा देते हैं उनके लिए, उन्हें पैसा देते हैं अलग से खर्चने के लिए।······और क्या-क्या नही करते कराते जिससे उन्हें सन्तान का अभाव न खले, अकेलेपन की बोरियत न हो।······

—और भाभी ?···उन जैसी समर्पित और कौन स्त्री होगी भला ? ···हर समय यही देखती रहती हैं कि भाई जी का मूड कैसा है।······ नौकर से तकाजा कर करके वही सब्जियाँ मँगाती हैं जो भाई जी को अच्छी लगती हैं, उनके मनपसन्द व्यंजन बनाती हैं, खुद अपनी तबीयत कैसी भी हो भाई जी के लिए सुबह उठकर चाय या काफ़ी बनाती हैं, उनके लिए देर रात तक इन्तजार करती रहती हैं रसोई मे बैठी कि कब वह आयें और तभी उन्हें गरम खाना खिलाएँ; जरा सी भी तबीअत खराब हो भाई जी की तो रात-रात भर बैठी रहती है उनके पास।··· यह सब क्या बिना प्रेम के ही होता है ?—

हाँ यह जरूर है कि अल्प-भाषी होने के कारण दोनों ही बोलते कम हैं। मगर कम बोलना क्या प्रेम की कमी की निशानी है।···उस दिन गंगाधर ने अपनी मूर्खतावश दो चार अपशब्द भर बोल दिए थे भाभी के लिए, उसी पर मरने-मारने पर उतारू हो गये थे भाई जी। यह क्या बिना प्रेम के ही ?—

सोचते-सोचते मन पगला सा उठा मेरा। मन में हुआ कि निस्मा-बिस्मा कर पूछूँ वही मिस पोर से कि किस आधार पर उन्होंने इतनी बड़ी बात कह दी भाई जी और भाभी के लिए।···पुलिस मे तीन-चार

बार ही तो घर पर आना हुआ होगा मिस घोष का और कुल मिलाकर घंटा-दो घंटा बात हुई होगी उनकी भाभी से। हाँ—भाई जी के पास क्लिनिक में जरूर आती रहीं है अपनी गठिया या आर्थिराइटिस के सिलसिले में। मगर भाई जी जैसे कम सुखुन आदमी ने क्या उन्हें अपना निजी आख्यान सुनाया होगा, इलाज के दौरान।...फिर कैसे जान गईं मिस घोष कि भाई जी और भाभी के बीच प्रेम नहीं है, केवल कर्त्तव्य-निर्वाह की औपचारिकता मात्र है ?

मगर तभी जैसे एक झटका सा लगा हो दिमाग को। यकायक ही मस्तिष्क-पटल पर जबलपुर से आई संभागिनी तारा कौल की तस्वीर कौंध गयी, जिससे मिस घोष अपनी एक चेली की बहिन के नाते बतियाती रही थीं पिछले दिन सुबह, गेस्ट-हाउस के उसी कमरे में, बड़ी देर तक। पता नहीं कहाँ-कहाँ के क़िस्से सुनाती रही थीं तारा देवी मिस घोष को और मिस घोष सुनती रही थी रस ले लेकर और बीच-बीच में टिप्पणी करती हुई। वही अपनी किसी सहेली के बारे में बता रही थीं जो किसी डाक्टर से ब्याही है और पन्द्रह-सोलह वर्ष के विवाहित जीवन के बाद भी नि.सन्तान है। गोष्ठी में जाने की तैयारी में लगी होने के कारण पूरी बात तो नहीं सुन पाई थी मैं तारा जी की मगर उनके कहने का सारांश शायद यही था कि ऊपर से प्रेम का दिखावा करते हुए भी, पुरुष कितना क्रूर और निर्मम हो सकता है अपनी पत्नी के प्रति, इसकी मिसाल उस डाक्टर से बढ़कर और कहाँ मिलेगी। 'सैडिस्ट', नरपशु, नाली का कीड़ा, 'बास्टर्ड' आदि न जाने कैसी-कैसी देशी-विदेशी उपाधियों से अलंकृत कर रही थीं उस डाक्टर को तारा कौल और साथ ही भविष्यवाणी करती जा रही थीं कि मरेगा तो सीधे कुम्भीपाक में जायेगा।.........और ग़लत भी नहीं कह रही थी वे कुछ। आखिर जो आदमी पहले खुद ही अपनी पत्नी को अपने छोटे भाई के पास भेजेगा जबर्दस्ती, पुराण-कथाओं में वर्णित 'नियोग' का हवाला देकर और फिर

स्वयं उनकी काम-क्रीड़ाएँ देखकर अपना पुरुषत्व जगाना चाहेगा, उसके लिए कुम्भीपाक नरक के अलावा और जगह हो भी कौन सी सकती है।''''''और इतना ही नहीं तारा जी के कथनानुसार तो, डाक्टर इससे भी दो कदम आगे चला गया था। पत्नी को जब चस्का सा लग गया इस काम-व्यापार का तभी डाक्टर ने अपना रुख बदल दिया।—'सैडिस्ट',—ठीक ही कहा था तारा कौल ने उसके लिए। पर-पीड़न से आनन्द लेना ही तो सैडिज्म है। जब देखा कि पत्नी को आनन्द आ रहा है इस अनैतिक सम्बन्ध में तभी वह छेदने लगा पत्नी को तानों और वाग्बाणों से। मगर उन दोनों के मिलने पर पूरी पाबन्दी फिर भी नहीं लगाई। सिर्फ दिखावा भर किया इस बात का कि उसे यह अनैतिकता रंचमात्र भी पसन्द नहीं है और कि उसे यानी पत्नी को देवर से मिलना बन्द करना होगा। अब हाल यह है कि पति डाल-डाल तो पत्नी पात-पात।—दोनों में होड़ लगी रहती है एक दूसरे को नीचा दिखाने की।''' और उसके बाद भी न जाने क्या फुस्फुसाती रही थीं मिस घोष तारा कौल से जिससे कि मैं न सुन सकूं।'''बल्कि एक बार जब मैं बाथरूम से बाहर आ रही थी, तो दोनों यकबयक चुप्पी साध गई थीं। तो क्या, उनके बीच में कुछ ऐसी बात चल रही थी जिसका सम्बन्ध मुझसे हो! '''तो क्या''''''क्या''''''जिस डाक्टर का ज़िक्र कर रही थीं वे लोग, वे कहीं मेरे भाई जी ही तो नहीं थे?

अभी यह घुन मेरे अन्तर को कुरेद ही रहा था कि मिस घोष की आवाज फिर सुन पड़ी। रिक्शे वाले से कुछ धीमे से चलने को कह रही थीं वे।

तब तक रीजनल कालेज बिल्कुल पास आ गया था और गन्तव्य को पास ही देखकर रिक्शे वाले ने ढालू सड़क पर अपनी स्पीड कुछ ज्यादा ही बढ़ा दी थी।

रिक्शे वाले ने ब्रेक लगाकर स्पीड धीमी की तो मिस घोष ने मेरी ओर देखा कनखियों से। फिर कल्लों के नीचे दबे पान के मलीदे का

कच्चूमर निकालती हुई बोलीं,—'मेरी बात शायद गले उतरी नहीं तुम्हारे। मगर कोई बात नहीं। यह उम्र ही ऐसी है। इसके अलावा यह प्रेम का फलसफा भी कुछ ऐसा अजीबो—ग़रीब है कि इसमें कोई पिछली रूलिंग—वह चाहे 'हाईकोर्ट' की हो या 'सुप्रीमकोर्ट' की, सभी मामलों में सटीक बैठ जाये यह जरूरी नहीं है। चलो, लखनऊ वापस लौटने पर प्रसन्न जोशी जी से ही पूछेंगे कि 'कहो तुम क्या कहते हो।'

□□

इक्कीस

मगर प्रसन्न से पूछने के लिए लखनऊ लौटने तक की प्रतीक्षा कहाँ करनी पड़ी ?

संगोष्ठी के समापन दिवस पर विशिष्ट मध्याह्न-भोज का आयोजन था। उससे निबटते-निबटते ही तीन बज गये। विवेकशील आयोजकों ने अपराह्न में कोई कार्यक्रम नहीं रखा था। हाँ, रात्रि में एक अन्तिम 'संगीत-सन्ध्या' का कार्यक्रम था। मगर जाने वाले सभागियों ने अपराह्न से ही अपना सामान समेटना शुरू कर दिया था। 'लंच' के बाद थकी थकाई कमरे में आकर कमरे में फैले हुए सामान की ओर देखती हुई सोच ही रही थी कि मैं भी सामान समेटना शुरू करूँ या अभी प्रतीक्षा करूँ कि अगले दिन किस गाड़ी में हम दोनों को रिजर्वेशन मिला है, कि तभी मिस घोष की आवाज आई—

'दीपा, देखो तो यह कौन-आया है।'

पलट कर देखा तो स्तब्ध, हतवाक् रह जाना पड़ा।

मिस घोष के पीछे ही दरवाजे पर प्रसन्न खड़े थे।

—मगर प्रसन्न यहाँ क्यों होने लगे ? तो क्या प्रसन्न की ही आकृति का कोई दूसरा व्यक्ति है यह ?……मन शंका कर उठा।

'क्यों, क्या जोशी जी को पहचान नहीं रही हो ?' मिस घोष ने टोका

इस बीच दृष्टि न जाने क्यों धुँधला सी गई थी—जैसे अचानक ही मोतियाबिन्द की परत सी उतर आई हो आँखों में और द्वार के बीच खड़े उस कुरता पाजामा धारी व्यक्ति की आकृति और अधिक धूमिल हो गई हो।

लगा जैसे अभी तक दरवाजे के बीच खड़ा वह आकार, दूर, बहुत दूर चला गया हो,—दृष्टि पथ के दूसरे छोर पर।

ऐसे में ही न जाने कैसे मेरे दोनों हाथ नमस्कार मुद्रा में ऊपर उठ गये।

प्रति नमस्कार में उधर भी हाथ जुड़े होंगे किन्तु मैं ठीक से देख नहीं पाई। मन में, उसी क्षण न जाने कितनी शंकाएँ—कुशंकाएँ घुमड़ आईं कि हतवाक् होने के अलावा हतबुद्धि भी हो गई।

—आखिर ये यहाँ क्यों आए हैं ? क्या कोई दुःखद सम्वाद लेकर ?—

—दुःसम्वाद ? तो किसके के बारे में ?—

—शान्ति बहिन के ?—

—भाई जी के ?—

—संवाद लाने वाले का चेहरा भी उत्फुल्ल जैसा नहीं दीख रहा है ? किसी विषाद की छाया के कारण या यात्रा की थकान के कारण ?

'अरे क्या इन्हे बैठने को भी नहीं कहोगी ?' हँस कर कह उठती हैं मिस घोष और फिर स्वयं ही दोनों कुर्सियों पर पड़े अटरम सटरम सामान को एक तरफ रखकर, एक कुर्सी प्रसन्न की तरफ कर देती हैं।

प्रसन्न को जैसे कुर्सी पर बैठने में भी संकोच हो रहा हो। मिस घोष के दुबारा-तिबारा कहने पर ही वे कुर्सी के किनारे पर टिक भर जाते हैं।

मेरा दिल अभी भी धुक-धुक कर रहा है। खड़े-खड़े ही दबी जुबान से पूछना चाहती हूँ—'क्यों शान्ति बहिन तो अब बिल्कुल ठीक हैं न ?'—मगर मुँह से निकलता है,—'भाई जी ठीक हैं न ?'

बात पूरी होते न होते सकपका जाती हूँ बेतरह। क्या कहना था, और क्या कह गई ? तारा कौल का सुनाया वह 'डाक्टर-प्रकरण' जो पिछले दो दिनों से अवचेतन में कहीं कुण्डलिनी मारे सोया पड़ा था, वही तो कहीं फन फुफकार कर मेरी चेतना पर हावी नहीं हो गया उस घड़ी ?

मगर प्रसन्न मेरी सकपकाहट की ओर ध्यान नहीं देते। धीमे स्वर में हामी सी भर देते हैं कह कर कि 'हाँ ठीक हैं। मगर……'

मगर मुझे सन्तोष नहीं होता प्रसन्न के उस उत्साह-विहीन स्वर से। भाई जी के बारे में पूरे विस्तार से सुनना चाहती हूँ उनके अभिन्न मित्र के मुख से। चाहती हूँ कि वे कहें पूरे विश्वास भरे स्वर में कि हाँ एकदम, बिलकुल ठीक हैं तुम्हारे भाई जी, खूब मजे में हैं।—और तुम्हारी भाभी भी.........'

तभी प्रसन्न का वही बुझा-बुझा सा स्वर फिर सुन पड़ता है।

'मकान का बँटवारा पूरा हो गया है। आँगन की दीवाल पूरी उठ गई है।'

—मगर मकान के बटवारे के बारे में यहाँ कौन चिन्तित है?—लगता है—जैसे प्रसन्न बात करने की खानापूरी भर कर रहे हों।

बहरहाल, अपनी गलती सुधारने के नाम पर मैं ही पूछती हूँ आगे—'और शान्ति बहिन तो अब बिलकुल ठीक हैं न?'

मेरे प्रश्न पर कृतज्ञता-भाव सा उमड़ आता है प्रसन्न के चेहरे पर। अपेक्षाकृत अधिक सहज स्वर में कहते हैं,—'हाँ, वो अब एकदम ठीक हैं। चार दिन हुए नर्सिंग होम से घर आ गई हैं। तुम्हें बहुत याद करती हैं।'

'और मीरा?'

'मीरा भी।'

'बच्चे-यानी नन्दन और जयन्ती भी बहुत खुश होंगे अब?'

प्रसन्न हँस पड़ते हैं मेरे इस प्रश्न पर। मिस घोष भी हँसती हैं।

मैं फिर सकपका सी जाती हूँ कि इस बार कहाँ, क्या गलती हो गई मुझसे।

'अच्छा तुम लोग बात करो', मिस घोष का स्वर उभर उठता है तभी। 'तब तक मैं नीचे जाकर देखती हूँ कि कुछ चाय-शाय की व्यवस्था हो सकती है इस बेला या नहीं। पता नहीं बेचारे को दोपहर का खाना भी नसीब हुआ या नहीं।'

बाईस

मिस घोष के चले जाने के साथ मेरी सहजता भी लौट आई हो जैसे। लगा कि मानो मैं यही चाह रही थी कि मिस घोष कुछ देर के लिए हम दोनों को अकेला छोड़ दें। सहजता के साथ मेरी कर्त्तव्य-बुद्धि भी जाग उठी हो जैसे। मिस घोष के विवेक को मन ही मन धन्यवाद देते हुए सुराही से एक गिलास पानी लिया और गिलास प्रसन्न के सामने कर दिया।

प्रसन्न को शायद प्यास ही सता रही थी। गिलास आगे बढ़ाते ही उन्होंने अपने हाथ में ले लिया और एक सांस में ही खाली करके फिर मेरे सामने कर दिया।

मैं जल्दी से दुबारा गिलास भर लाई। लज्जा भी लगी मन में कि तीसरे पहर की कड़ी गर्मी झेलकर आ रहे पाहुने से पानी तक के लिए नहीं पूछा। मिस घोष पर भी क्रोध आया कि वे इतनी बुजुर्ग और दुनियादार हैं। उन्हें तो पूछना चाहिए था, कम से कम। उसके बजाय 'चाय-शाय' के इन्तजाम की जल्दी पड़ गई।

दूसरा गिलास खत्म करके, प्रसन्न ने तृप्त भाव से उच्छ्वास भरा। गिलास को सुराही के पास रखने स्वयं ही उठ रहे थे, तभी गिलास मैंने उनके हाथ से ले लिया।

इस बीच मिस घोष के तकिये के नीचे अधदबा एक सेब मेरी नजर पड़ गया था। गिलास रखकर सेब उठाया, तो उसे काटने की समस्या सामने आई। मिस घोष के जेबी चाकू के लिए इधर-उधर देख ही रही थी, तब तक प्रसन्न ने मेरी परेशानी को भांप लिया।

हँस कर बोले-,—'लाओ, साबित ही दे दो। सेब ऐसे ही खाया जाता है।'

प्रसन्न दाँतो से ही काट-काट कर सेब खाने लगे तो मैंने पूछा,—'दिल्ली कैसे आये थे।—क्या मीरा को पहुँचाने ?'

'नही मीरा तो वही अपनी बहिन के पास ही है अभी।'

'तो फिर क्या और कुछ काम था दिल्ली में ?'—मैंने पूछा, पास पड़े पलंग की पाटी का सहारा लेते हुए।

'नहीं दिल्ली में तो कोई खास काम नही था।' प्रसन्न ने अधखाये सेब को हाथ मे घुमाते हुए कहा।—'वहाँ एन० सी० ई० आर० टी० में तुम्हारा पता ही लगाना था।'

'मेरा पता ?···क्यो मैं तो भाई जी को बता आई थी कि अजमेर जा रही हूँ।'

'मगर शायद यह नही बताया था कि अजमेर मे कहाँ किस काम से जा रही हो और कहाँ ठहरोगी', प्रसन्न ने एक जबर्दस्ती की हँसी हँसते हुए कहा।

'मगर मेरे पते की ऐसी क्या जरूरत पड़ गई ?—क्या भाई जी की······उनकी तबीयत तो ठीक है न ?'

मेरे स्वर में व्यग्रता स्पष्ट थी।

'हाँ आनन्द भाई तो एक प्रकार से ठीक ही हैं। मगर एकदम ठीक और स्वस्थचित्त है, यह भी नहीं कहा जा सकता।'

'क्यो क्या मकान के बँटवारे के बाद भी गंगाधर ने कोई खुराफात की ?'

'हाँ, एक कारण वह भी है उनकी दुश्चिन्ता का। मगर मुख्य कारण······'

'मुख्य कारण क्या ?' पूछते हुए मैं कुछ 'नर्वस' सी हो जाती हूँ।

'मुख्य कारण तुम्हारी भाभी हैं',—प्रसन्न का गंभीर स्वर कुछ और ज्यादा सजीदा हो जाता है।

'क्यो भाभी को क्या हुआ ?'

'कोई खास बात तो नहीं, मगर इधर पिछले तीन-चार दिनों से कुछ सनक सी गई हैं, ऐसा लगता है।'

'सनक सी गई हैं ? क्या मतलब ?'

न चाहते हुए भी मेरा स्वर उत्तेजित हो उठता है।

'ऐसे ही कुछ बहकी बहकी सी बातें करने लगी है।...कोई स्पष्ट बात भी नहीं कहती। ज्यादातर ओठों ही ओठों में कुछ बुदबुदाती सी रहती हैं। लिखती भी रहती हैं न जाने क्या-क्या। और फिर सारा लिखा हुआ फाड़ देती हैं। वैसे घर का कामकाज सामान्य रूप से करती हैं....'

प्रसन्न की यह बात कुछ समझ में आई मेरे। पिछले दिनों गंगाधर उनके प्रति जिस तरह पेश आ रहा था, उससे कोई भी सामान्य व्यक्ति असामान्य हो सकता था।

'तो क्या भाई जी ने भेजा है आपको ?'

'नहीं, फिलहाल तो तुम्हारी शान्ति बहिन के कहने पर ही आना हुआ है मेरा।'

'मगर आप तो कह रहे थे अभी कि शान्ति बहिन अब बिलकुल ठीक हैं ?'

'हां वो तो पूरी तरह स्वस्थ हैं अब,' प्रसन्न ने स्वर को यथासाध्य सहज रखते हुए कहा। 'मगर तुम्हारी ओर से भी बेतरह चिन्तित हैं।'

'मेरी ओर से ? क्यों मैंने क्या किया है ?' कहते हुए मेरे स्वर में रूक्षता आ गई थोड़ी।

'अभी तक कुछ नहीं किया है, सो अच्छा ही है,' प्रसन्न ने धीर-गम्भीर स्वर मे कहा। 'मगर उन्हें भय था कि तुम कहीं कोई ऐसा वैसा कदम न उठा लो बाहर परदेश में।'

'यानी मैं कहीं आत्म हत्या न कर लूं ? यही न ?'

मेरा स्वर थोड़ा और उग्र हो उठता है।

'नहीं नहीं, शान्ति बहिन ऐसा कभी नहीं सोच सकतीं तुम्हारे बारे में। तुम जितना समझती हो, उससे बेहतर जानती हैं वे तुम्हे।'

'आपने यह भी नहीं पूछा कि कोख में पल रहा यह अवांछित बोझ आप ही का प्रसाद है या.......'

'क्या,...यह क्या कह रही हो दीपा तुम ? क्या तुम मुझे इतना गया गुजरा समझती हो। मैं तो कभी स्वप्न में भी नहीं सोच सकता ऐसी बात !......तुम्हें प्यार करने में मुझसे सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन भले ही हुआ हो मगर समाज की किसी भी पंचायत के सामने मैं इस तथ्य से मुकरूँगा नहीं कि मैंने तुम्हें प्यार किया है और कि तुम्हारा गर्भस्थ शिशु मेरा है।'

कहते-कहते हाँप से गये प्रसन्न। सेब के अवशेष को पास के एक 'स्टूल' पर रखकर, कुर्ते की जेब से रुमाल निकालकर उन्होंने हाथ पोंछे और फिर उसी से माथे पर छलछला आये पसीने को पोंछ लिया।

मेरे मन पर न जाने एक कैसा मीठा-मीठा सा अवसाद छा गया। विह्वलता ने जिह्वा को कीलित सा कर दिया। आँखों मे गरम-गरम *वाष्पजल तिलमिलाने लगा। अन्तर में कोई धीमे-धीमे से जलतरंग* जैसे स्वर में...गुनगुनाने सा लगा...

'पास चिलमन के वे यूँ ही बैठे रहे—

चाँद ढलता रहे, दम निकलता रहे।'

मन में हुआ कि बस इसी बिन्दु पर पूरी सृष्टि शून्य में विलीन हो जाय, नाटक का अन्तिम जवनिका पात हो जाय यहीं।

मगर वैसा कुछ नहीं हुआ।

इतना जरूर लगा कि जैसे प्रसन्न कुर्सी से उठकर मेरे पास तक आये हों, मेरे माथे पर उन्होंने अपना कोमल हाथ फेरा हो, और मेरे सिर के पास अपना मुँह ले जाकर मेरी सूनी माँग को अपनी अनुरागमयी साँसों से भर गये हों वे।

चेतना लौटी तो प्रसन्न वहीं अपनी कुर्सी पर बैठे थे, आर्द्र एवं अपलक दृष्टि से मेरी ओर निहारते हुए।

—यो क्या यह कोरा 'भरम' ही था मेरा ।

काँपता हुआ बाँया हाथ माँग पर पहुँच गया अचानक ही । बाल अपनी जगह पर ही थे ।

माँग में अनुराग लालिमा थी या नहीं, कौन जाने । मगर मेरी गोद में एक नई चीज अवश्य आ गई थी ।—प्रसन्न का रूमाल । वही जिससे अभी कुछ क्षण पहले उन्होंने अपने माथे का पसीना पोंछा था ।

—तो यह सपना नहीं था ।

—बस, इतना ही बहुत है ।⋯⋯

रूमाल को दोनों हथेलियों के बीच कसकर दाब लिया मैंने । आँसुओं को यथेच्छ बहने दिया । रूमाल हाथों में होते हुए भी पोंछा नहीं उन्हें । तभी अन्तर के न जाने किस आवेश के वशीभूत होकर कह उठी मैं⋯ 'मिस घोष सत्य ही कहती थी ।'

'क्या मेरे बारे में कुछ कह रही थी मिस घोष ?', प्रसन्न ने पूछा ।

'हाँ, तुम्हारे बारे में ही तो । वरना और किसके बारे में । पिछले सात आठ दिनों से हम दोनों तुम्हारे और प्रेम के बारे में ही तो बातें करते रहे हैं ।'

प्रसन्न चुप ही रहे ।

'कह रही थी कि तुम्हारे जैसे पुरुष संसार में विरले ही होते हैं । तुम उनमें से नहीं हो जो अपने दायित्व से मुँह मोड़ लें ।'

'और तुमने विश्वास कर लिया उनकी इस बात का ।' कहकर थोड़ा मुस्करा उठे प्रसन्न ।

'अपने विश्वास के बारे में क्या मुझे बताना पड़ेगा तुम्हें ?'⋯कहते हुए मेरा गला फिर भरभरा आया ।

'नहीं नहीं, मेरा वह मतलब नहीं था', —कहकर अनुतापवश [illegible] जोर जोर से सिर हिलाने लगे ।

दो-तीन क्षण दृष्टि का मौन [illegible] ही होता रहा [illegible] के बीच ।

'अच्छा एक बात बताओगी ?' प्रसन्न ने चुप्पी तोड़ते हुए कहा।

'पूछो।'

'यह—जिसे तुम अवांछित भार समझती हो, इससे तुम्हें छुट्टी दिलाने का विचार तुम्हारा था या मिस घोष का ?'

'मैंने तो इसे कभी अवांछित भार माना ही नहीं। उलटे, वरदान मानने लगी हूँ अब तो इसे। मैं इससे मुक्ति पाने की बात कैसे सोच सकती थी भला।'

'तो क्या मिस घोष का सुझाव था.......'

'नहीं, ऐसा सुझाव मिस घोष ने भी कभी नहीं दिया',—प्रसन्न की बात बीच में ही काटकर कहा मैंने।

'फिर ?'

'फिर क्या ? यह किसने कह दिया आपसे कि मैं अजमेर इसी कार्य के लिए आई थी।'

स्वर में कुछ झुंझलाहट आ गई मेरे।

'नाराज मत हो दीपा। तुम्हारी शान्ति बहिन को तो इसी बात को लेकर बेहद घबराहट थी। नर्सिंग होम से घर जाने के बाद जब तुम्हारी 'कलीग' किरन जैतले से उन्हें यह पता चला कि तुम्हारे साथ मिस घोष भी गई हैं तभी से उनके मन में यह आशंका बैठ गई कि तुम्हारे अचानक ही अजमेर जाने के पीछे कहीं कोई ऐसी बात न हो।

प्रसन्न की इस बात से पूरी स्थिति एक साथ ही स्पष्ट हो गई।

—तो किरन ने ही बताया होगा मेरा यह भेद शान्ति बहिन को—मैंने सोचा और फिर यह सोचकर कि शान्ति बहिन को इतना ख्याल है मेरा, मन एक अनोखे स्वस्तिभाव से भर उठा।

'हुँ ह ह'—प्रसन्न ने मठार कर गला साफ किया तो मेरा ध्यान टूटा।

'हाँ इतना अवश्य है कि मिस घोष ने यहाँ आने के बाद बातों ही बातों में यह संकेत अवश्य किया था——'

'क्या संकेत ?' कहते हुए प्रसन्न कुर्सी पर सीधे होकर बैठ गये ।

'कि अगर मैं चाहूँ कि भविष्य में नार्मल जीवन जियूँ और तुम्हें और शान्ति बहिन को भी नार्मल जीवन जीने दूँ तो मेरे लिए यह वाछनीय होगा कि मैं विवाह कर लूँ किसी सत्पात्र से और उस दशा में यह उचित होगा कि मैं इस गर्भ से छुटकारा पा लूँ ।'

'तब तो शान्ति ने ठीक ही सोचा था,'—सोच भरे स्वर में बोल उठे प्रसन्न ।

'मगर यह भी उन्होंने किसी बुरे उद्देश्य से नहीं कहा था । उनका आशय यही था कि आज के सामाजिक परिवेश में 'गर्भ-समापन' कोई पाप नहीं हैं ।'

'मगर तुम्हारी शान्ति बहिन तो इसे आज भी पाप ही मानती है ।' प्रसन्न ने गंभीरतर मुद्रा अपनाते हुए कहा ।

'मैं भी इसे अच्छा नहीं मानती ।'

'तभी तो शान्ति तुम्हें बहिन की तरह स्नेह करने लगी हैं और इसी-लिए उनका आग्रह है कि तुम उन्हीं के पास वापस लौट आओ । वे विधि-वत् तुम्हारी मांग सजाकर, तुम्हें अपनी बहिन की तरह रखेंगी । लखनऊ से मेरे रवाना होते समय भी कह रही थीं कि भारत में पहले भी अन-गिनती नारियां इसी भाँति रही हैं और आज भी सुख से रह रही हैं। उन्हें इसमें कोई विशेष अन्तर नहीं पडेगा''''''

'विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा, यही कहा था न उन्होंने,'—प्रसन्न की बात बीच में ही काटकर कहा मैंने ।

'हाँ क्यों ?'

'इसका अर्थ हुआ कुछ अन्तर तो पड़ेगा ही ।'

प्रसन्न हँस पड़े, मेरे इस तर्क पर । बोले,—'हाँ भई, कुछ अन्तर तो जरूर ही पड़ेगा । उसके सुख पर एकान्त अधिकार में कुछ न कुछ तो खलल पड़ेगा ही ।'

'यह खलल मैं नहीं डालूंगी। उन्हें यह विश्वास दिला देना मेरी ओर से। बल्कि तुम क्यों कहोगे, लखनऊ चलकर मैं स्वयं ही उनकी चरण-धूलि माथे पर ले उनसे यह आशीर्वाद मांगूगी कि मेरी यह बात मिथ्या न हो....'

'मगर, यदि मैं कहूँ कि मेरी भी यही इच्छा है,' प्रसन्न बोल उठे मेरी बात समाप्त होते न होते।

'तो मैं कहूँगी कि यह तुम्हारी आन्तरिक इच्छा नहीं है, वरन कर्त्तव्य-भावना मात्र है मेरे प्रति।——वैसे मैं जानती हूँ कि तुमने मुझे गहरा आन्तरिक प्यार दिया है,——आज भी मुझे गैर नहीं मानते। मगर तीन तीन को खेना तुम्हारे बस की बात नहीं है, यह भी मैं भली भांति जानती हूँ।'

'तीसरी कौन ?' प्रसन्न ने किंचित उद्वेलित स्वर मे कहा।

'तुम्हारी पहली प्रिया यानी संगीत सधना।'

कहकर हँसना चाहा मैंने मगर गले ने अन्दर से साथ नही दिया।

प्रसन्न भी धीमी बेजान हंसी हंसकर ही रह गये।

'तो आगे क्या करने का विचार है तुम्हारा ?'—चार-छः क्षणों के मौन के बाद प्रसन्न ने पूछा।

'बताऊंगी समय आने पर। जो कुछ करूंगी तुम्हे बताकर, तुमसे पूछ कर ही करूंगी तुमसे बढ़कर और हितू कौन है मेरा,'—कहकर शरद की मानिनी किन्तु समर्पित नायिका की तरह प्रसन्न के चरणों मे झुकने के लिए उठने का उपक्रम कर रही थी कि तब तक तारा कौल को साथ लिए और कैन्टीन के एक छोकरे पर चाय का सामान लदाये, मिस घोष आ गईं कमरे में।

□□

तेईस

तीसरे दिन सुबह मैं मिस घोष और प्रसन्न के साथ ट्रेन से लखनऊ पहुँची तो, तार द्वारा पहुँचने की पूर्व-सूचना देने के बावजूद, रेलवे स्टेशन पर मेरे स्वागत के लिए कोई मौजूद नहीं था।

बुरा लगना स्वाभाविक था। मगर यह नहीं समझती थी कि इस छोटी सी बात पर मेरा मुह इस बुरी तरह लटक जायेगा कि मिस घोष और प्रसन्न दोनों ही भाँप जायेंगे। एक दिन और एक रात की उस परम सुखद और आरामदेह यात्रा की परिणति ऐसे बेसुरे स्वर पर होगी, यह मैंने भला कब सोचा था। रास्ते भर ही तो प्रसन्न ने आनन्द भाई की चर्चा की थी। मैं और मिस घोष बीच-बीच में जरूर संगोष्ठी की उस अन्तिम 'संगीत-सन्ध्या' की ओर भटक जाते थे, जिसमें प्रसन्न ने मुख्य अतिथि के रूप में राग कालिंगड़ा मे बधे बड़े ख्याल—'मोहे पिया मिलन को जाने दे, बीरन मानो'—और मारू विहाग में एक ठुमरी गाकर पूरी श्रोता-मण्डली को भाव-विभोर और मंत्र-कीलित सा कर दिया था। मगर प्रसन्न अपने उस प्रशंसा-आख्यान को समाप्त करने के लिए या तो मेरे वायलिन वादन की या मिस घोष के 'बाउल-गान' की तारीफ करना आरंभ कर देते थे या फिर अपने उसी पुराने विषय-'आनन्द भाई' पर आ जाते थे।

और वही आनन्द भाई यह जानकर भी कि उनकी एकलौती प्रिय बहिन और अभिन्न मित्र इस ट्रेन से वापस लौट रहे हैं, न केवल स्वयं नदारद थे बल्कि उन्होंने पं० कन्हैयालाल मुनीम जी को या किसी नौकर चाकर को भी स्टेशन पर भेजने का कष्ट नहीं किया था।

'ऐसी भी क्या बीमारी भाभी की ? अगर खुद नहीं आ सकते थे तो

गंगाधर को तो भेज ही सकते थे।' कुली के पीछे-पीछे चलते हुए मैं कह उठी।

'गगाधर ?'—कहकर चिहुक से उठे प्रसन्न।

मैंने उनकी ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा। मगर आगे उन्होंने कुछ नहीं कहा। अपना बैग हाथ मे लटकाये चलते रहे स्टेशन द्वार की ओर।

मगर मिस घोष से नहीं ही रहा गया। स्टेशन की भीड़-भाड़ और शोरगुल के बीच भी भरसक आवाज ऊंची करके कह उठीं, 'अरे भई, भाई जी क्या तुम्हारे लिए अपनी क्लीनिक भी नहीं जायेंगे? और गगाधर को भी तो कचहरी जाना होता है।—उसी की तैयारी में होगा बेचारा। मगर घर पहुँचने पर जब भाभी के हाथ की गरम-गरम लूचियां खाने को मिलेंगी—परवल की भूजी और दही के साथ तब स्टेशन पर किसी के न आने की बात भूल जाओगी। खातिरदारी की बात तो हमसे पूछो। घर पहुँचकर उस कुलबोरन सरसुतिया के हाथ से एक प्याला चाय भी मिल जायेगी ढंग की, तो क़िस्मत वाला समझेंगे अपने आपको।'

● ● ●

मगर घर पहुँचने पर भी मुझे स्वागत के नाम पर अपना मरियल 'मोती' ही मिला पोर्टिको के बाहर पूंछ हिलाता हुआ और अपनी बड़ी-बड़ी कजरारी आंखों से कुछ मूक सन्देश सा देता हुआ। पिछले ८-६ दिनों में उसकी दशा और ज्यादा बिगड़ी सी ही लगी मुझे। कोशिश करने पर भी एक परिक्रमा से ज्यादा नहीं कर पाया मेरी। एक चक्कर के बाद ही थक कर बैठ गया। बड़ी दया लगी मुझे उस पर। झुक कर उसका दुलार करने जा ही रही थी कि ध्यान आ गया स्टेशन से साथ आये प्रसन्न का।

इस बीच आटो रिक्शा वाले ने मेरा सूटकेस, कन्डी और थर्मस ले जाकर बाहर के बरामदे में रख दिया था और प्रसन्न भी थ्री-ह्वीलर से नीचे उतर आये थे। मैं उनसे एक प्याला काफी के लिए रुकने को कहने जा ही रही थी कि आटो-रिक्शा वाले ने मोटर फिर 'स्टार्ट' कर दिया।

प्रसन्न जल्दी से मेरे जुड़े हुए दोनों हाथों को अपनी हथेलियों से थप-थपा कर—'चिन्ता मत करना कोई, मैं शाम को या कल सुबह आऊंगा,'—कहते हुए फिर आटो-रिक्शा में जा बैठे।

भारी हृदय से सूटकेस को घसीटकर मैंने ज़ीने के पास कर दिया। फिर थर्मस और कन्डी लेकर ज़ीने पर अभी दूसरा ही क़दम रक्खा था कि भीतर कहीं आँगन से टीपू मास्टर के रोने की आवाज़ सुन पड़ी। सोचा कि पहले उन्हीं से मिलती चलूं और अजमेर से उसके लिए ख़रीदा हुआ तमंचा भी देती चलूं उसे। खुश हो जायगा तमंचा पाकर। मगर ज़ीने से नीचे झांक कर देखा तो वह दरवाज़ा ही नदारद था, जिससे बाहरी गैलरी से आँगन में जाया जाता था, और जिसके आस-पास हो चाची अदबदा कर उपस्थित रहती थीं, भाई जी के ऊपर से नीचे जाते समय उन्हें अपनी फरमाइशों की सूची पकड़ाने के लिए। ज़ीने की उस दूसरी सीढ़ी से ही आँगन में उठी दीवाल का ऊपरी किनारा भी नज़र आ रहा था, जिसने मकान को दो हिस्सों में बाँट दिया था।

—तो भाई जी ने सामने का ड्राइंग रूम और उसके दाएँ-बाएँ लगे दोनों कमरे और उन दोनों के बीच के उस बरामदे को जिसमें पिताजी अपनी चिरपरिचित आराम कुर्सी पर बैठा करते थे, अपने ही अधिकार में रक्खा है और पार्श्ववर्ती भाग गंगाधर को दिया है।

सोचकर बड़ा सन्तोष सा हुआ मुझे।

तो फिर चाची की तरफ़ जाने के लिए दरवाज़ा किधर से होगा?

सोचकर कंडी में ऊपर ही रक्खे हुए तमंचे को निकालकर और कंडी को वहीं ज़ीने में टिकाकर ज़ीने से ही वापस हो ली मैं, 'किचन गार्डन' की ओर जाने के लिए।

'किचन-गार्डन' भी श्रीहत सा हुआ पड़ा था सारा जैसे हफ़्तों से किसी ने उसकी सुध ही न ली हो। मेरे जाने के बाद से, इधर शायद वर्षा भी नहीं हुई थी।

टीपू का रोना अभी रुका नहीं था।

—असली रिवाल्वर जैसे लगने वाले तमंचे के साथ मुझे देखते ही खिल उठेगा—यही सोचते हुए पंडित कन्हैया लाल मुनीम की कोठरी से सटे दरवाज़े से होकर मैं दबे पाँव उस आँगन में पहुँची, जहाँ टीपू महाशय अपनी माँ के पास बैठे न जाने किस बात का रोना रोये जा रहे थे। मगर इन्दु जैसे बेटे की ओर से एकदम बेखबर हो। बड़ी बेहाल सी मुद्रा में सामने घुटनों पर रखी थाली मे कुछ बीना-बानी कर रही थी सिर झुकाए हुए।

मज़ा लेने के लिए मैंने तमंचा टीपू की ओर तान लिया और कड़क कर कहा—'टीपू मास्टर—'हैन्ड्स अप'।'

आवाज़ सुनकर इन्दु हड़बड़ा गई एकदम और मेरी ओर घूम कर देखने में थाली उसके घुटनों से सरक कर नीचे ज़मीन पर आ रही एक झन्नाटे के साथ और अरहर की दाल बिखरकर धरती पर फैल गई।

बड़ी झेंप सी लगी मुझे अपनी इस बचकानी हरकत पर। विशेष रूप से इन्दु की वह करुणार्द्र उदास दृष्टि, जिससे पहले उसने ज़मीन पर छितरी हुई दाल को देखा और फिर मुझे, मुझे वही अन्दर तक बेध गई।

मैं आगे बढ़कर इन्दु बहू से माफी माँगने जा ही रही थी कि तब तक उसकी दृष्टि शायद मेरे हाथ के उस तमंचे पर जा पड़ी।

पलक मारते इन्दु ने टीपू को अपनी गोद मे समेट लिया और खड़ी हो गई। मेरी दृष्टि से टीपू को आड़ मे किये, आग्नेय दृष्टि से मुझे घूरते हुए पूछा,—'आप क्या, इसे मारने आई हैं अब ?'

'क्या मतलब ?—यह क्या कह रही हो तुम इन्दुबहू,'—उग्र स्वर में चिल्ला सी उठी मैं।

'क्यों उनके बाद अब इसी का तो नम्बर है ?' इन्दु ने सुलगते स्वर में कहा।

'किसके बाद, किसका नम्बर है ?' मैं ऐसे तिलमिला उठी जैसे कोई

हुन्नार ही कोई छूटे दोहन्त लगा रहा हो।

इन्दु इस नर को तकरार सी गई। मगर फिर भी कठोर, कसैली दृष्टि से घूरती रही मेरी ओर।

'और दंगाधर कहाँ है? अभी तो कोई का सबब नहीं हुआ है!' मैंने अपने आपको संभाल कर, इधर-उधर ताकते हुए पूछा।

'यह उसी हरामी मेंढुर से क्यों नहीं पूछती ऊपर जाकर।'

यह कर्कश स्वर चाची का था, जो शायद अपने 'लड्डू-गोपाल'-कक्ष से निकलकर इसी बीच मेरे पीछे बरामदे में खड़ी हो गई थीं आकर।

'क्या भाई जी से मतलब है आपका?'

'हाँ-हाँ-अपने उसी भाई जी से पूछ—जैसा भाई—वैसी बहिन। हुँहु———भा ऽ ई ऽ जी।'

'मगर हुआ क्या है? बात क्या है? आप इस तरह क्यों———और फिर भाई जी तो अपने दवाखाने में होंगे इस वक्त।'—मैंने किसी तरह बात पूरी की अपनी।

'दवाखाने नहीं जाता तेरा भाई जी अब। अपनी उसी पतुरिया की सेवा टहल में लगा होगा। पूछती क्यों नहीं उसी से जाकर। हमारा दिमाग क्यों चाट रही है?'

इसी बीच टीपू ने और ज्यादा गला फाड़कर रोना शुरू कर दिया था।

उसे चुप करने के लिए मैंने उसकी ओर सांसा बढ़ाया तो इन्दु ने हाथ मार कर उसे दूर फेंक दिया।

मैं भौंचक बनी कभी चाची की ओर, कभी इन्दु की ओर और कभी टीपू की ओर देखती ही रह गई।

तभी ऊपर से आवाज आई—

'दीपा ऽ'

मैंने आँगन में खड़ी दीवाल के पार ऊपर छत की ओर निगाह उठाई तो देखा कि भाई जी खड़े थे, अपनी छत की मुँडेर पर कोहनियाँ टेके।

'तुम ऊपर आ जाओ दीपा। उन लोगों से बात करना फिजूल है'—भाई जी का स्वर फिर उभरा।

इन्दु एक झपाके में ही, रोते हुए टीपू को लिए अन्दर कमरे में चली गई।

भ्रमित-चकित सी मैं वहाँ से चलने को हुई तो चाची फिर बोल उठीं।

'वेस्या बहिन और भड़ुआ भाई। हुँ हू।'

'क्या कहा ?'—तार स्वर में चीख उठी मैं।

'अरे एक बार नहीं, पचास बार, सौ बार कहेंगे हम—'भड़ुआ भाई—वेस्या बहिन। जो आदमी खुद जानबूझकर अपनी लुगाई को पहले अपने छोटे भाई के पास भेजे सोने को और फिर उसी भाई की जान का ग्राहक हो जाय, वो भड़ुआ नहीं है तो और क्या है ? इसी भादों में अगर उसके अंग अंग में कीड़े न पड़ें तो मेरा नाम फेर देना। और तू——तू——तेरे चरित्तर कौन नहीं जानता।'

बस उसके बाद एक क्षण भी नहीं रुक पाई मैं वहाँ। एक एक क़दम में बाहरी जीने की दो-दो सीढ़ियाँ फलाँगती हुई, अपनी छत पार करके जब भाई जी के सामने पहुँची तो उन्होंने मुझे अंक में भर लिया बेतरह-और उसी तरह अंक में भरे भरे ही मुझे अपने कमरे में ले गये।

वहाँ भाभी खाने की मेज पर बैठीं, एक 'लैटर-पैड' पर जाने क्या लिख रही थीं। मेरी ओर एक निगाह फेंक कर फिर अपने काम में मशगूल हो गईं।

मैं भाई जी के अंक में, एक डरी हुई कबूतरी की तरह सिमटी हुई, बार-बार पूछे जा रही थी—'ये लोग क्या कह रही हैं आपके बारे में ?'

और भाई जी मुझे दुलारते हुए बार बार यही उत्तर दोहरा रहे थे कि 'उनकी बात की चिन्ता न कर तू। वे पागल हो गई हैं।'

'मगर क्यों ?'

'मगर क्यों ?'

'मगर क्यों ?'

न जाने कितनी बार दोहराया था मैंने यह प्रश्न तब कहीं जाकर भाई जी ने वज्र-गम्भीर स्वर में कहा था—'गंगाधर ने उस ईसाई लड़की का खून कर दिया है—और अब वह पुलिस की हिरासत में है। उसी 'शॉक' से दिमाग़ चल गया है इन सबका।'

चौबीस

और दिमाग़ सचमुच में ही चल गया था सबका।

केवल चाची और इन्दु का ही नहीं, जैसा कि भाई जी ने कहा था, बल्कि सभी का, परिवार में सभी लोगों का।

दिमाग़ न चल गया होता तो गंगाधर क्या वैसे ही अपनी उस ईसाई प्रेमिका को,-उसीको जिसे वह एक रात इस घर में ले आया था और जिसके सामने उसने भाभी को जलील किया था बुरी तरह—उसी को चाकू से गोद -गोद कर मार आया होता।

और वह भी रात्रि के एकान्त में नहीं, बल्कि सरेशाम छः बजे, हलवासिया मार्केट के पास उसी लड़की के अपने फ्लैट में, उसके चार-छः दोस्तों के सामने जिनके मनोरंजनार्थ वह उस शाम अपनी 'कैबरे' कला का प्रदर्शन कर रही थी।

और दिमाग़ ही न चल गया होता तो क्या चाची द्वारा खड़े किये गये वकील की सलाह के बावजूद, उसने पुलिस के सामने ही नहीं, मजिस्ट्रेट के समक्ष भी अपना अपराध स्वीकार कर लिया होता दो टूक शब्दों में।

और फिर गंगाधर ही क्यों, भाई जी जैसे ज्ञानी विवेकी व्यक्ति—कम से कम अब तक मैं यही समझती थी—जो अमानुषी व्यवहार भाभी के साथ करते चले आ रहे थे पिछले तीन वर्षों से, यानी मेरे नाइजीरिया जाने के बाद से, और जिसकी पूरी जानकारी इन पिछले २०-२५ दिनों में अजमेर से लौटने के बाद ही हो पायी थी मुझे, वह क्या सही और सन्तुलित दिमाग़ की ही निशानी थी।

और आज भी जो कर रहे हैं, उसे भी अर्द्ध पागलपन के अलावा कोई क्या कहेगा।

यही मैंने प्रसन्न से कह भी दिया था उस दिन और अगले दिन यही बात शान्ति बहिन के चरणों में भी निवेदन कर आई थी। उन दोनों को यह विश्वास भी दिला आई थी कि अपनी कोख मे पल रहे 'प्रसन्न' देवता के वरदान को मैं व्यर्थ नही जाने दूँगी। मैं स्वयं भी जिन्दा रहूँगी और भरसक उसे भी पालूँ-पोसूँगी और कोशिश करूँगी कि वह भी अपने पिता की तरह एक महान और नेक इन्सान बन सके।

□□

पच्चीस

और आज।

आज इकत्तीस दिसम्बर है।

वर्ष का अन्त।...एक और वर्ष का अन्त।

तीन सौ पैंसठ लम्बे दिनों और दिनों से भी लम्बी रातों से बने एक 'छोटे' से वर्ष का अन्त।...अनन्त काल-प्रवाह के एक नामालूम क्षण का अन्त।

इस बीच संसार के मंच पर न जाने कितने नाटक,-हिंसा, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष और मत्सरता से भरे नाटक-, राजनीति, कूटनीति, और अनीति पर आधारित नाटक,-प्रेम, अहिंसा, सद्भावना और विश्व बन्धुत्व के नाम पर खेले गये होंगे और समाप्त हुए होंगे।... मगर खरे परिवार में पिछले तीन साढे तीन साल से खेला जा रहा यह कुत्सित नाटक समाप्त कहाँ हुआ है अभी ?

वैसे, कुछ दिनों पहले तक जिन्हें मैं भाई जी कहती आई थी, उन्हीं डा० आनन्द का ख्याल है कि खरे परिवार के नाटक का भी अन्त हो गया। उनका कहना है कि नाटक का खलनायक ही जब रंग-मंच से तिरोहित हो गया तो नाटक का अन्त स्वयं ही हो गया। वे गंगाधर को नाटक का प्रमुख पात्र मानते आये हैं और गंगाधर को, पिछले सप्ताह सैशन्स अदालत से आजीवन कारावास का दण्ड सुनाया जा चुका है, उस ईसाई लड़की की हत्या के जुर्म में।

मगर यहीं, शायद, डा० आनन्द गलती पर हैं। और इस ग़लती का भान, और किसी ने नहीं, स्वयं भाभी ने, उन्हीं की पत्नी ने करा दिया है उन्हें। फैसले वाले ही दिन भाभी ने उन्हें बता दिया था, मौखिक

रूप से भी और लिखित तहरीर द्वारा भी कि नाटक अभी समाप्त नहीं हुआ है, अभी कई अंक बाक़ी हैं उसके। रक्तरंजिता चामुण्डा माँ जैसी कठोर भयकारी मुद्रा में, मेज़ पर खड़े होकर उन्होंने यह भी उद्घोषित कर दिया डा० आनन्द के मुँह पर ही कि नाटक का खलनायक गंगाधर नहीं था वल्कि वह था और है,— जिसे समाज लखनऊ के एक गण्य-मान्य डाक्टर के रूप में जानता है,—वही डा० आनन्द जिसे उन्हें पति मानते हुए भी लज्जा आती है अब, वही डा० आनन्द जिसने पहले तो स्वयं अपनी पत्नी को और अपने से सोलह सत्रह वर्ष छोटे भाई को निषिद्ध मार्ग पर आगे बढ़ाया और फिर जब पानी सिर के ऊपर निकल गया तो अपनी राह से हटाने के लिए भाई को एक झूठे क़त्ल के मुकदमे में फँसा दिया। इस लम्बी उद्घोषणा के दौरान डा० आनन्द एक बिफरे हुए सिंह की तरह चक्कर काट रहे थे अपने कमरे में, बीच-बीच में सिंहवाहिनी दुर्गा स्वरूपा भाभी की ओर देखते हुए। यदा-कदा वह कमरे के बाहरी दरवाजे की ओर भी दृष्टि डाल लेते थे जहाँ मैं अपने बाहर को निकले आ रहे पेट को छिपाने के प्रयास में सिमटी सिकुड़ी सी खड़ी, समाप्त हुए नाटक के इस 'अगले नये अंक' की एक मात्र दर्शक थी। ज़ीने का दरवाजा पहले से ही बन्द था।

वैसे भी नीचे से आने वाला कौन था नाटक के इस नये अंक को देखने के लिए। इन्दु बेचारी अपने कमरे में पड़ी अपनी क़िस्मत पर आँसू बहा रही थी टीटू को छाती से चिपटाये। उसके यह आँसू गंगाधर के लिए कम, उस 'देवता' के लिए अधिक थे, जिससे उसने एक दिन, एक छोटा सा पर्चा लिखकर, इस घर को 'नर्क' बनने से बचाने के लिए प्रार्थना की थी। ..और चाची, जिन्होंने 'कुपुत्र' को बचाने के लिए अपनी अब तक की जोड़ी सारी कमाई, मय अपने जेवरों के, दाँव पर लगा दी थी, अपने 'लड्डू गोपाल' के सामने दीन हीन बनी फर्श पर लोटी पड़ी थी। अब किसी ऊँची अदालत में, अपील करने की भी शक्ति नहीं बची

थी उनमें। वैसे, उनके वकील ने भी उन्हें यह कहकर और डरा दिया था कि सेशन्स अदालत ने गंगाधर की नई उम्र पर ही तरस खाकर आजीवन कारावास की हलकी सजा सुनाई है। उच्च न्यायालय में अपील में जाने पर 'अवघूउड' की स्पष्ट स्वीकारोक्ति के परिप्रेक्ष्य में, दण्ड का स्वरूप कठोरतर हो सकता है। कठोरतर? यानी मृत्युदण्ड।……

और भाभी के मुख से निरन्तर झर रही 'आकाशवाणी' की इतिश्री यहीं नहीं हुई थी। वे एक बार फिर गरजीं,-'और तुम समझते हो मुझे कुछ पता ही नहीं है……'

'यह क्या बक रही हो तुम… ?'… डा० आनन्द के इन पांच शब्दों ने भाभी की 'सनक' … यदि उसे सनक ही कहा जाय … को मानों चरम बिन्दु पर पहुँचा दिया हो। खड्ग-हस्ता न होते हुए भी वे हाथों का संचालन ऐसे करने लगीं, जैसे एक साथ दो-दो तलवारें भांज रही हों असुरों से घिरी युद्ध भूमि में।

'और तुम समझते हो कि मुझे कुछ पता ही नहीं है,'… भाभी की दुबारा शुरू हुई भीम-गम्भीर गर्जना सारे घर को गुँजा गई हो मानों। 'मुझे सब पता है। मेरे पास सारे सबूत मौजूद हैं तुम्हारे खिलाफ। पिस्तौल की नोक मेरे सीने पर रख-रख कर, मेरी जिस डायरी को और गंगाधर के भेजे जिस कागज को चाहते हो तुम, वह तुम्हें नहीं मिलेगा। हरगिज-हरगिज नहीं मिलेगा। फिर निकाल लाओ अपना रिवाल्वर और उसकी सारी गोलियाँ उतार दो मेरे सीने में, फिर भी डायरी तुम्हें नहीं मिलेगी। …मेरी सारी आलमारियाँ, मेरे सारे बक्से, मेरा सारा सामान तहस-नहस कर दो फिर भी नहीं मिलेगी तुम्हें वह डायरी और नहीं मिलेगा वह कागज।

और वास्तव में भाभी गलत भी नहीं कह रही थीं कुछ। [illegible] सामान में या उनके पास उनकी वह डायरी थी नहीं, [illegible] उन्होंने पहले ही समाप्त कर दी थी। [illegible]

सौप आयी थी वे, डा० आनन्द की शराब जनित गफलत का लाभ उठा-कर। डायरी सौंपते समय सिर्फ इतना ही कहा था उन्होंने, '—इसे अपने प्राणों की तरह सुरक्षित रखना और अगर इसके बल पर किसी को न्याय मिल सके कभी, इसी का प्रयास करना।' मैंने भी पता नही क्यों बिना कोई प्रतिवाद किये भाभी की उस थाती को सँभाल कर रख लिया था अपनी आलमारी के लॉकर मे। अगले दिन देखा भी था उसके पन्ने पलटकर। उसमें भाभी ने अपने अन्तर का सारा दर्द उड़ेल कर रख दिया था, तारीखवार ब्योरा देते हुए पिछले तीन वर्षों के यन्त्रणा चक्र का। मगर भाई-नही, डा० आनन्द को विशेष भय भाभी के इस मानसिक यन्त्रणा-आख्यान से नही था। असली खतरा तो उन्हे डायरी में चिप-काये हुए उस कागज से था जिस पर गंगाधर के अपने हस्तलेख में आठ-नौ पक्तियां लिखी हुई थी : 'आपकी बात याद है, और आखिरी दम तक याद रहेगी।......आप उस ओर से निश्चिन्त रहे। मगर हत्या मैंने नही की है। शराब के नशे में उसे मारा-पीटा जरूर था, मगर उसकी हत्या, मेरी बेहोशी मे, और किसी ने ही की है। उन्ही में से किसी ने, जो उस शाम उसके घर पर मौजूद थे और जिन्हे इसी काम के लिए पैसा देकर भेजा गया था। लखनऊ में पेशेवर हत्यारों की कमी नहीं है। ...बस अन्तिम - '

और उसके नीचे भाभी के हस्तलेख में एक 'चेक' का नम्बर अंकित था मय तिथि के और हाशिए पर लिखा था, हत्या के दो दिन पहले ही बीस हजार रुपया बैंक से क्यों निकाला गया? क्या पेशेवर हत्यारों को देने के लिए?:

"और तुम्हे तो उसका अहसानमंद होना चाहिए," भाभी की नाटक के नये अक की उद्‌घाटन वक्तृता जारी थी—"कि उसने तुम्हारी नेक नामी का पिटारा नहीं खोला अदालत में,—पूरे मुकदमे भर चुप रहा। जानते हो क्यों?— इसलिए नही कि तुम उसके पूज्यपाद भ्राता

हो यहे । —— वह इसलिए चुप रहा क्योंर कि जब पुलिस उसे ले जा रही थी तब मैंने अपनी क़सम दिला दी थी उसे कि अपने भाई को मत घसीटना इसमें । और उसने मेरी बात रक्खी । फाँसी पर चढ़ने की बात होती तब भी चढ़ जाता वह बिना मुँह खोले । क्यों ?—— क्योंकि कुकर्मी होते हुए भी वह मर्द है । क्योंकि वह मुझे प्यार करता है और कान खोल कर सुन लो कि मैं भी उसे प्यार करती हूँ । कैसा ही रन्डीबाज और शराबी-जुआरी वह क्यों न हो, मगर तुमसे अच्छा है । क्योंकि वह मर्द है । तुम-तुम-तुम नामर्द हो, एक बेग़ैरत गिरे हुए इन्सान हो । तुमसे मैं नफ़रत करती हूँ ।

'जमाऽऽ '- डा० आनन्द ने बीच में बोलने की कोशिश की थी कुछ।

'हाँ-हाँ यह मैं क्या ही बोल रही हूँ'—भाभी अपनी उखड़ी सास को तनिक सँभाल कर फिर चालू हो गयी थीं । 'तुम्हारी सात फेरे पड़ी पत्नी और इस नाटक की खलनायिका । ——मैं खलनायिका और तुम खलनायक । ——क्योंकि नायक यानी हीरो तो कोई है ही नहीं इस नाटक में । और अगर था तो वह अब जेल में बन्द है । अब तो बस हम तुम दोनों में ही कम्पटीशन है । देखें, अभिनय के लिए सोने का तमग़ा किसे मिलता है ? और देखो तुम शायद रांची भेजना चाह रहे हो मुझे पागल क़रार देकर, मगर मैं रांची-वांची कहीं नहीं जाऊँगी, इसे तय मान लो । मेरे कहीं जाने से पहले ही वह डायरी अदालत में पहुँच जायेगी याद रखना ।'

डा० आनन्द ने अब कमरे में चक्कर लगाना बन्द कर दिया था । मेज के पास हतवाक्, हतबुद्धि खड़े, गर्दन ऊपर किये, मेज के ऊपर खड़ी उस वज्रांगना की ओर ताके जा रहे थे, बस । उन्होंने शायद स्वप्न में भी नहीं सोचा होगा कि उन्हें जीवन में किसी से ऐसी खरी बातें सुनने

को मिलेंगी। और वह भी किसी और के मुंह से नहीं स्वयं अपनी सगकिन पत्नी की ओर से और वह भी अपनी चहेती इकलौती बहिन के सामने।

जो डा० आनन्द खडा था कमरे के बीच में, वह न तो जया का पति डा० आनन्द लगता था और न दीपा का "भाई जी" ही। वह तो कोई और ही था। गड्ढों में धँसी आँखें, पीला-जर्जर चेहरा, हड्डियों का ढांचा भर बचा शरीर। सारी सुदर्शनता, सारा स्वास्थ्य, सारा हँसमुखपना पता नहीं जाने कौन छीन ले गया था उससे, हम सबों के देखते-देखते।

आँसू पोंछती हट आयी थी, एक बार समाप्त हो गये नाटक के उस नये अंक को देखकर।

:

और रही मेरी अपनी बात।

तो मेरी तो कभी कोई गणना थी ही नहीं इस नाटक के पात्रों में। मैं तो एक एक्स्ट्रा भर थी जो कितना भी 'बढ़िया साइड रोल' क्यों न करे, किसी तमग़े की हकदार नहीं होती।

मगर तमग़ा या न तमग़ा। चाहती मैं यही हूँ कि यह नाटक आगे भी चलता रहे। बल्कि शायद कुछ ग़लत कह गयी -- मेरा आशय है कि यह नाटक बल्कि इसी नाटक के आगे कुछ नए अंक जुड़ते चले जायँ। हो सकता है कि आगे के किसी अंक में मेरे पुराने 'भाई जी' मुझे फिर मिल जायँ। 'भाई जी' भी और भाभी भी। वही चार-पाँच साल पुराने भाई-भाभी--स्नेहिल, गम्भीर और विचारशील।

फिलहाल तो मैंने भाई जी को अपने जीवन के सबसे बड़े घाटे के रूप में ही दर्ज कर लिया है अपनी रोकड़- बही मे। ऐसा अप्रत्याशित और आघातकारी घाटा, जिस पर बहाने के लिए आज दो आँसू भी नहीं बचे हैं मेरे पास।

मगर नाटक में तो सुख-दुख, आनन्द-विपाद, दोनों साथ चलते ही

है। यह तो मेरे अपने भाग्य की बात है कि इस नाटक में 'आनन्द' ही विषाद में बदल गया।

जहाँ तक प्रसन्न का प्रश्न है; वे ठीक ही चले गये, इस नाटक से दूर। बड़ा विवेक पूर्ण और साहस भरा निर्णय लिया उन्होंने बम्बई में विष्णु दिगबम्र महाविद्यालय के प्राचार्य पद को स्वीकार करके। ऐसा करने में उनकी अपनी 'गन्धर्व अकादमी' का बरसों का सजोया स्वप्न अपने पूर्ण रूप में साकार होने से जरूर रह गया। मगर प्रेम-व्यापार में एक न एक घाटा तो होता ही है। पिछले इसी मंगलवार को उन्हे, शान्ति बहिन को और नन्दन--जयन्ती को बम्बई की ट्रेन पर बिठा आई मैं और किरन। --

मगर केवल हानि और घाटे की ही गिनती क्यों ? उपलब्धि क्या कम हुई है मुझे इस नाटक के दर्शक और गौण पात्र के रूप में। आज जैसे एकदम ही निस्संग हो गई होऊ मैं। जीते जी ऐसी निस्संगता प्राप्त हो जाना क्या कोई कम उपलब्धि है ? आज तो लगता है मानो सारी गाँठे खुल गई हों। जाने अनजाने, जीवन में जो भी गाठें लगाती आई थी-कुछ जोड़ने वाली और कुछ मानवीय सम्बन्धों में व्यवधान डालने वाली, वे बिना खोले ही खुल गई है। और इन गाँठो के खुलने के साथ सारे व्यामोह भी समाप्त हो गये हैं। जिस भाई को देवोपम पुरुष मानती चली आई थी, उसका मोह भी भंग हो गया है आज और उस ओर से लग रहा है जैसे बन्धनमुक्त हो गई हूँ मैं। भाभी के बारे में ठीक से कह नहीं सकती कि वे भाई जी के साथ जिस ग्रन्थि-बन्धन को आज तक निभाती चली आ रही थीं किसी प्रकार,उससे मुक्त होकर-अनौपचारिक रूपमें ही सही-उन्हे कैसा लग रहा है। मगर सोचती हूँ उन्हे भी अपने अर्थहीन एवं दुःखद विवाह सम्बन्ध की निर्जीव गाँठ टूट जाने के बाद सुकून ही मिला है कुछ। वही तो वास्तविक गाँठ थी उनकी मनोवेदना या तथाकथित मान उत्ताप के पीछे। सुख ही मिला होगा उन्हे उस गाँठ के टूटने से।...

अनजाने में ही मैं प्रसन्न और शान्ति बहिन के जीवन में जो गाँठ लगा बैठी थी, उससे उन्हें मुक्ति देना जैसे मेरे निरर्थक जीवन की एक बड़ी उपलब्धि बन गई हो। —'''प्रसन्न को खोने का भी मुझे दुःख नहीं है आज। उन्हें तो मैं पति रूप में पाये बिना ही पा गई। मेरी कोख में जो जीव पल रहा है, वह मेरे प्रसन्न का ही तो प्रतिरूप है न?

किरन कभी-कभी अपने विशिष्ट विनोदात्मक अन्दाज में कहती है— 'और सारी 'ग्रन्थियों' से तो मुक्त कर लिया दीदी तुमने अपने आपको मगर यह 'नई ग्रन्थि' क्यों पाल ली'? मैं कहती हूँ—पगली यह 'ग्रन्थि' नहीं है, यह तो नारी-जीवन की परम सिद्धि का मार्ग है, मेरे प्रसन्न का दिया हुआ प्रसाद है, मेरे अवशेष जीवन का पाथेय है—जिसके परिचय के लिए उसकी माँ का नाम ही पर्याप्त होगा।'—बस इसके बाद कुछ नहीं बोलती किरन।

क्यों मेरी बात ठीक है न ?

□□

लेखक परिचय

उत्तर-प्रदेश के बदायूं नगर में १ जून, १६२६ को जन्म, संस्कृत साहित्य से एम० ए० करने के बाद ही उत्तर प्रदेश शिक्षा सेवा में चयन; ३३ वर्षों तक विभाग के विभिन्न महत्वपूर्ण पदों पर कार्यरत रहकर अभी हाल में ही अपर शिक्षा निदेशक पद से अवकाश। सम्प्रति : सदस्य, उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षा सेवा आयोग।

किशोरावस्था से ही लेखन कार्य जीवन से अविभाज्य रूप में जुड़कर रह गया है। किन्तु आत्मसीमित रहने की प्रवृत्ति के कारण जो कुछ लिखा है उसका एक अंश ही प्रकाश में आ पाया है। कुछ कहानियाँ हिन्दी की प्रमुख पत्रिकाओं में प्रकाशित, प्रशंसित और पुरस्कृत हुई है।

प्रकाशित कृतियाँ : भूखे शरीर नंगी आत्माएं (उपन्यास), विषय विकार मिटाओ (कहानी संग्रह)।

वर्तमान पता : २५३ ए, बाघम्बरी आवास योजना, अल्लापुर, इलाहाबाद–२११००६

आवरण चित्रांकन : अशोक भौमिक